आचार्य नरेन्द्रदेव

भगवती शरण सिंह



आधुनिक भारत के निर्माता

आचार्य नरेन्द्रदेव

भगवती शरण सिंह

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

आषाढ़ 1913 (जुलाई 1991)

मूल्य : 25 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली 110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
- एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069
- एल० एल० ए० आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
- 10 बी० स्टेशन रोड, लखनऊ-226004
- स्टेट आर्किलाजिकल म्यूजियम बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद-500004

स्वतंत्र भारत प्रेस, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली-110006 द्वारा मुद्रित।

प्रकाशकीय

'आधुनिक भारत के निर्माता' श्रृंखला प्रकाशन विभाग का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। इस श्रृंखला के अन्तर्गत ऐसे महापुरुषों की जीवनियां प्रकाशित की जाती है, जिन्होंने देश को गुलामी की बेड़ियों से मुक्त कराने में एवं यहां की संस्कृति व सभ्यता के विकास में अपना अकथ योगदान दिया है। ये महा-पुरुष आत्मश्लाघा से सदैव दूर रहे। वे राष्ट्र निर्माण व देश सेवा को अपना स्वाभाविक कर्तव्य मानते थे। वे इस शस्य श्यामला भूमि में पुष्पवत् खिलकर निरपेक्ष भाव से अपनी सुगंधि चारों ओर बिखेरते हुए इसी माटी में मिल गए। उन्होंने हमारे मार्ग में जो प्रकाश स्तम्भ खड़े किए, वह आज भी 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के श्रुति वाक्य को चरितार्थ कर रहे है। उनकी प्रतिध्वनियां आज भी हमारे राष्ट्र के कण-कण से गूंज रही हैं। हम उन महापुरुषों के ऋणी हैं क्योंकि निराशा और परवशता के बियाबान जंगलों को काटकर जो निष्कटक मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया, उसी मार्ग पर हम गर्व से सिर उठाए अग्रसर है। यह हमारा परम कर्तव्य है कि हम इन महान आत्माओं का परिचय भावी पीढ़ी तक पहुंचाएं। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रकाशन विभाग ने यह पुस्तकमाला प्रारम्भ की।

इस श्रृंखला के अंतर्गत प्रकाशित जीवनियों में विस्तृत घटनाक्रम पर ही जोर न देकर महापुरुष के उस पक्ष को उजागर किया गया है, जिसका सम्बध किसी-न-किसी रूप मे आधुनिक भारत के निर्माण से रहा है, अतः इनमें व्यापक जीवन-वृत्त खोजना अथवा विस्तृत रूप से उनकी विचारधाराओं का विश्लेषण ढूंढना उचित नहीं होगा।

'आचार्य नरेन्द्रदेव' इस श्रृंखला की अगली कड़ी है। इसके लेखक हैं— स्व० भगवतीशरण सिंह। आचार्यजी का महत्व इसी बात से आंका जा सकता है कि 1947 मे कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए इनके नाम का प्रस्ताव गांधीजी जैसे महापुरुषों ने रखा था। आधुनिक समाजवादी विचारधारा के प्रवर्तक

आचार्यजी ही थे। समकालीन भारतीय चिंतकों मे आचार्यजी की गणना बड़े सम्मान के साथ की जाती है।

आशा है, यह पुस्तक पाठको को न केवल आचार्यजी के जीवन तथा स्वतंत्रता संग्राम मे उनके योगदान से परिचित कराएगी, बल्कि उन्हे प्रेरणा भी देगी।

डा० श्याम सिंह शशि
निदेशक

आमुख

आचार्यजी की जीवनी लिखना एक कठिन काम था। उन्होंने अपने बारे मे या अपने से सम्बद्ध कोई कागज-पत्र नही छोडा था। यदि रहा भी हो तो कही सुरक्षित नही किया गया। जिन लोगों के पास था या जिन्होंने एकत्र किया था, उन्हे देने से इनकार था। उनके बचपन के साथी और समकालीन बहुत लोग अब नही रहे। अतः जीवनी के लिए, जो और जितनी सामग्री आवश्यक थी, उसको एकत्र करना और सम्बद्ध व्यक्तियों से मिलकर जानकारी प्राप्त करना समय-साध्य और व्यय-साध्य था। दोनों ही सुविधाएं अनुपलब्ध थीं। एक अतरग जीवनी के लिए जितने समय और काम की अपेक्षा होती है, वह सफल जीवनीकार जानते हैं। फिर भी प्रकाशन विभाग के मित्रो का आग्रह मनोनुकूल था, अतः वरेण्य भी। आचार्यजी का मैं सदा ऋणी रहूगा। उनका जो स्नेह मुझे मिला था, वह मेरी अमूल्य धरोहर बनी रहेगी। यह जीवनी लिखकर मैं ऋण मुक्त नही हो रहा हूं, बल्कि इससे उन्हें समझने और उनका गम्भीर अध्ययन करने की पिपासा बढी ही है। यह जीवनी उन्हे समझने और उनके भीतर झांकने का एक प्रयास मात्र है। यदि इससे पाठकों के मन मे भी उन्हे अधिक समझने, उनके आदर्शों पर चलने और उनके साहित्य को जानने की रुचि बढ़ी तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूंगा, अन्यथा भी इसे उनके प्रति श्रद्धा-सुमन मानकर सतोष पाऊगा।

मैं उन सबका आभारी हूं जिनकी सदाशयता इसके लेखन में मुझे मिली। मैं श्री अजय कुमार का एवं श्री चन्द्रदत्त तिवारी का विशेष रूप से आभार स्वीकार करने मे सुख का अनुभव कर रहा हू।

भगवती शरण सिंह

विषय-सूची

जन्म और बाल्यकाल

प्रत्येक मनुष्य का जन्म किसी-न-किसी स्थान विशेष मे होता है। अत उसके जन्म की तिथि और संवत् भी होता है। यही कारण है कि प्राय: प्रत्येक मनुष्य अथवा प्राणी देश-काल की परिधि में बंधा रहता है। देश-काल की परिधि में बंधे हुए कोल्हू के बैल की तरह घूमते रहकर एक दिन संसार की असारता सिद्ध करने के लिए चल बसना ही साधारण मनुष्यों की नियति होती है। असारता इस अर्थ में भी कि ऐसे साधारण लोग जीते रहकर भी जगत मे न तो कोई सार-तत्व पाते हैं और न अपने परिवेश को कुछ दे पाते हैं। सारा जीवन अपने और अपने कुटुम्ब के लिए रोटी-कपड़ा जुटाने में बीत जाता है। यद्यपि यह भी जीवन का एक आवश्यक कर्म है और गृहस्थ जीवन का परम कर्तव्य भी है, पर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जब ऐसे मार्ग अपनाए जाए, जो नीति-सम्मत न हों, तो वह जीवन को नि.सार बना जाते हैं। साधारण मनुष्य के जीवन मे वे क्षण आते ही रहते है जब वे परिस्थितियों का शिकार होते हैं। लेकिन परिस्थितियो से लड़ना, उन्हे बदलना और पुरुषार्थ के लिए प्रयत्न करना ही साधारण मनुष्य को असाधारणत्व की ओर ले जाता है। नरेन्द्रदेवजी के बारे मे, उनके जीवन और परिवेश के बारे मे, कुछ भी लिखने के पूर्व कुछ और लिखना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि उनका जीवन जैसा कि लोगों को देखने-समझने के लिए मिला, निश्चितरूप से देश और काल की परिधि को लांघ कर जिया हुआ जीवन था।

आचार्य नरेन्द्रदेवजी के जीवन को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम उनके परिवेश के बारे में तथा उनके कुटुम्ब के बारे मे जान लें। नरेन्द्र-देवजी के पूर्वज कभी भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश के रहने वाले थे। वे क्या करते थे, उनकी जीविका का आधार कृषि या अथवा अन्य कुछ, इसका कुछ पता नहीं चलता। इतना ज्ञात है कि वे लोग पुराने पंजाब के स्यालकोट स्थान के रहने वाले थे। वहां से उनके पूर्वज सीधे फैजाबाद आ गए। अवध मे

अंग्रेजी अमलदारी 1856 में कायम हुई। नरेन्द्रदेवजी के दादा श्री कुंजबिहारीलालजी अवध की राजधानी फैजाबाद में बर्तनों का कारोबार करते थे। उन्होंने अपने छोटे भाई को अपने कारोबार में न लगाकर अंग्रेजी शिक्षा दिलवाई क्योंकि शासकों के दरबार मे पलने और पनपने वाली भाषा और तहजीब में शिक्षित और दीक्षित होना नामप्रद होता है, यह उस समय की आम बात हो चुकी थी। यह श्री कुंजबिहारीलालजी की दूरदर्शिता और उनकी सहज समझ थी कि अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी आ रही है अतः समय रहते इसे भी अपना लेना चाहिए।

नरेन्द्रदेवजी अपने एक सस्मरण में लिखते हैं—"हमारे खानदान मे सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। वह पुराने केनिंग कालेज मे अध्यापन का कार्य करते थे। उन्होने मेरे पिता और मेरे ताऊ को अंग्रेजी शिक्षा दी।" नरेन्द्रदेवजी ने अपने दादा के छोटे भाई का नाम नहीं लिखा, पर उनका व्यवसाय स्पष्ट कर दिया कि वे अध्यापक थे। प्रो० मुकुट बिहारीलालजी लिखते हैं कि इनके पिता श्री बलदेवप्रसाद सीतापुर मे अपने चाचा श्री सोहनलाल के शिष्य मुंशी मुरलीधर के साथ वकालत करते थे। इससे पता चलता है कि उनके दादा के छोटे भाई जो केनिंग कालेज मे अध्यापक थे, उनका नाम श्री सोहनलाल था। उनके प्रिय शिष्य मुंशी मुरलीधर थे जिन पर श्री सोहनलाल का विशेष स्नेह था और जब नरेन्द्रदेवजी के पिता ने वकालत पास की तो उन्हे मुरलीधरजी की देख-रेख में वकालत करने के लिए सीतापुर भेज दिया।

नरेन्द्रदेवजी की वंश-परम्परा मे प्रतिभा, परिश्रम और दूरदर्शिता थी, इसका संकेत कई जगह मिलता है। यह दूरदर्शिता की ही बात थी कि इनके दादा ने अपने छोटे भाई को अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया और अंग्रेजी शिक्षा दिलाई। नरेन्द्रदेवजी के पिता, जो आंखो की बीमारी के कारण बी० ए० पास न कर सके, अपने बाबा से कानून की पुस्तकें सुन-सुनकर उसे धारण करते गए और वकालत की परीक्षा पास की। निश्चय ही नरेन्द्रदेवजी को अपने अध्यवसाय के बल पर बहुत कुछ प्राप्त करने का पुरुषार्थ विरासत में मिला। विरासत की बात यदि छोड़ भी दी जाए, तो भी परिवेश का प्रभाव बचपन में बहुत पड़ता है और उसके स्पष्ट प्रमाण उनके सात्विक जीवन मे मिलते रहे। सीतापुर का परिवेश कैसा था, इस सम्बध में अधिक ज्ञात नहीं होता है, पर

वह जैसा भी रहा हो, इनके पिता संत प्रवृत्ति के थे। सीतापुर में उन्होंने कितने दिनों वकालत की, इसका भी अंदाजा नही मिलता पर अपने पिता की मृत्यु के बाद इन्हें सीतापुर से फैजाबाद आना पड़ा, यह निश्चित है। नरेन्द्रदेवजी के पिता बाबू बलदेवप्रसादजी तब सीतापुर से फैजाबाद आए, उस समय बालक नरेन्द्रदेव केवल दो वर्ष के थे।

फैजाबाद मे इनकी वकालत खूब चमकी और इन्होंने वहां खूब धन और सम्मान कमाया। बावजूद धन और मान के यदि इनमें अहंकार छू तक नही गया तो यह इनकी साधु-वृत्ति ही थी। वह मूलतः सनातन धर्मावलम्बी थे, ऐसा बताया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके यहा व्रत-पर्व, पूजा-पाठ और दूसरे कर्मकांड जरूर ही होते रहे होंगे। पर सीतापुर में रहते समय उनका किसी सन्यासी के प्रभाव मे आकर वेदांत के प्रति आकर्षण और अभिरुचि मे अभिवृद्धि भी बताई जाती है। उसके बाद से संन्यासियों का सत्संग बढ़ता ही गया और इन्होंने वेदांत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। इसने इनमें तर्क के प्रति आदर का भाव पैदा किया होगा, जिसका प्रभाव भी बालक नरेन्द्रदेव पर पड़ा। आगे चलकर नरेन्द्रदेवजी ने स्वयं कहा है कि "जीवन के पारम्परिक मूल्यो को बिना विवेचन किए स्वीकार नही करना चाहिए।" पर जहा नरेन्द्रदेवजी के जीवन मे तर्क, प्रतिष्ठा और विवेचन शक्ति का अभूत-पूर्व दर्शन होता है, वही बाल्यकाल के परिवेश के प्रभाव के कारण उनमें एक समन्वयी प्रवृत्ति भी मिलती है। वह कहते हैं, "सभी पुराने आदर्शों और सिद्धातो का बहिष्कार उचित नहीं। समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा सचित ज्ञान का निरादर अनुचित होगा। इसके विपरीत पुराने आदर्शों और प्राचीन संस्कृति का अध्ययन आवश्यक है।"

नरेन्द्रदेवजी के दादा तो सनातन धर्मी थे ही लेकिन पिता की सनातन धर्म के साथ ही वेदात के अध्ययन में भी विशेष रुचि थी, अतः उनके मन मे न केवल ऐकेश्वरवाद की धारणा दृढ हुई वरन् ब्रह्म के स्वरूप पर विचार भी आगे बढ़ा। फारसी, जो उन दिनों आदर की दृष्टि से भी देखी जाती थी, इन विचारों के दोहन और स्वतंत्र चिन्तन में बिलकुल भी मददगार नही थी। अतः बाबू बलदेवप्रसादजी ने अंग्रेजी शिक्षा के साथ स्वाध्याय के रूप में संस्कृत का भी अध्ययन किया। परिणामस्वरूप संस्कृत के माध्यम से उन्हें अपनी संस्कृति और धर्म के स्वरूप को पहचानने में तो मदद मिली ही, साथ ही वे

धर्मग्रंथों का मूल अध्ययन करने में भी सफल हुए। धर्म मे उनकी अभिरुचि इतनी थी कि उन्होने फैजाबाद मे एक सनातन धर्म सभा भी कायम की थी। यहा इतना और कह देना आवश्यक है कि उस समय तक सनातन धर्म के साथ-साथ आर्य समाज भी जोर पकड़ चुका था और एक दृष्टि से आर्य समाज राष्ट्रीयता की भावना को दृढ करने मे अधिक सहायक भी हो रहा था। यह भी ध्यान देने की बात है कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी के समकालीन या पूर्व राजनेता अधिकाश रूप मे अपने प्रारम्भिक जीवन मे इन्ही दो सम्प्रदायो से आए, और कई तो इनके सक्रिय कार्यकर्ता भी रहे। इस दृष्टि से नरेन्द्रदेवजी का बाल्यकाल और प्रारम्भिक जीवन सनातन धर्मी ही रहा। नरेन्द्रदेवजी के एक अप्रकाशित सस्मरण का हवाला देते हुए मुकुट बिहारीलालजी ने नरेन्द्र-देवजी के कुछ वाक्य उद्धृत किए हैं—"इन दिनो सनातन धर्म और आर्य समाज मे बहुत शास्त्रार्थ होते थे। आर्य समाजी पंडित मूर्तिपूजा, अवतारवाद और पुराणों की प्रामाणिकता के सम्बंध में सनातन धर्म की कड़ी आलोचना करते थे, दिल दुखाने वाले कटु शब्दों का प्रयोग करते थे।" मुकुट बिहारी-लालजी आगे कहते हैं कि "उनके पिता को आर्य समाजियों का यह व्यवहार बहुत कष्ट देता था और सनातन धर्मी वातावरण मे पलने के कारण नरेन्द्रदेव में भी आर्य समाज के प्रति विद्वेष की भावना पैदा हो गई थी।" प्रारम्भ मे भले ही ऐसा रहा हो, पर आगे चलकर हम देखेंगे कि नरेन्द्रदेव इस संकीर्णता से बहुत जल्द छुटकारा पा गए और उनमे सभी सम्प्रदायों की अच्छाइयों के प्रति आदर का भाव उदय हो गया। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनका प्रारम्भिक जीवन सनातन धर्मी ही था। उनको रुद्री और सम्पूर्ण गीता कठस्थ थी।

नरेन्द्रदेवजी के बचपन के परिवेश का एक और सुदर चित्र मिलता है। उसकी छाप भी नरेन्द्रदेवजी के व्यक्तित्व पर आगे चलकर पड़ी। बचपन मे उन्होंने अपने पिता को मकान बनाने, बाग लगाने और अच्छी पुस्तको के संग्रह में व्यस्त रहते देखा था। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि वह अपनी आमदनी का बहुत बड़ा भाग विद्वानो और साधु-सतो के ऊपर खर्च कर देते थे। वह आतिथ्य सत्कार व विद्यार्थियो की सहायता करना अपना धर्म समझते थे। इसके अलावा धार्मिक कार्यों में तो वे व्यय करते ही रहते थे। उन्होने अयोध्या मे एक ब्रह्मचर्याश्रम भी खोला था, जहा रहकर विद्यार्थी संस्कृत की

निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे। वह स्वयं भी छोटी-छोटी पुस्तके लिखते रहते थे। बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी और फारसी में कई पुस्तके लिखी थी। स्वयं नरेन्द्रदेवजी की अंग्रेजी की पढ़ाई इनके पिता द्वारा इनके बड़े भाई के लिए लिखी गई प्राइमर से हुई थी। पढ़ने में नरेन्द्रदेव कुशाग्रबुद्धि के विद्यार्थी होने के साथ-साथ सत्यप्रिय भी थे। इन्हे अपने सहपाठियों का सिगरेट आदि पीना अच्छा नही लगता था। इन्होंने स्वय लिखा है कि, "मेरे ऊपर मेरे पिता का गहरा प्रभाव था।" इसलिए भी यह प्रभाव स्थायी रहा होगा कि इन्हे अपने पिता का विशेष स्नेह मिला था। पिता उन्हे अपने साथ प्रायः रोज ही कचहरी ले जाते थे और वहां समय निकाल कर इन्हे पढ़ा भी देते थे।

बचपन में इनके ऊपर पिता के अतिरिक्त इनके अध्यापक दत्तात्रेय भीखाजी रानडे का भी बहुत प्रभाव पड़ा था। वह योग्य शिक्षक होने के साथ-साथ अपने विद्यार्थियो मे उत्साह भरने वाले व्यक्ति भी थे। उनके पढाने का ढग भी निराला और आकर्षक था। इस सम्बंध में दो अन्य योग्य अध्यापकों का भी नाम नहीं छोड़ा जा सकता है; जिनमें से एक तो मास्टर राधेश्यामजी थे, और दूसरे थे मास्टर राधेरमण लालजी। घर पर नरेन्द्रदेव अपने पिता के पुस्तकालय की देख-रेख और सफाई इत्यादि तो करते ही रहते थे, स्कूल मे भी राधेरमण लालजी ने इनके चरित्र, शील और अनुशासनप्रियता से प्रसन्न होकर इनके स्कूल की पुस्तकालय की कुजी इन्हे सौप दी थी। यद्यपि राधेरमण लालजी पुस्तकालय के अध्यक्ष थे तथापि, नरेन्द्रदेवजी ही वास्तविक पुस्तकालयाध्यक्ष थे और वही अध्यापको और विद्यार्थियो को पुस्तकें आदि देने का काम करते थे। नरेन्द्रदेवजी को खेलकूद में रुचि नहीं थी। शायद इसका अवसर भी इन्हें कम मिला। हो सकता है इसमें इनके स्वास्थ्य की कमजोरी का भी हाथ रहा हो। नरेन्द्रदेवजी ने स्वय भी एक जगह अपनी शरीर सम्पत्ति के अच्छे न होने का जिक्र किया है।

अपनी कक्षा में वह सदा ही सर्वोत्तम रहे और अपने सदाचार के लिए भी अपने गुरुजनो के प्रिय पात्र बने रहे। वस्तुतः अपने समवयस्क विद्यार्थियों में वह आदर्श विद्यार्थी माने जाते रहे। पर ऐसा भी नहीं था कि कोई इनसे नाराज ही नहीं होता रहा हो या वह कोई बालोचित कार्य ही न करते रहे हों। इस विषय में एक रोचक प्रसंग का जिक्र करना इस अवसर पर अनुचित न होगा। इनके एक संस्कृत अध्यापक इनसे और इनके साथियों से किसी कारण

प्रसन्न हो गए। हो सकता है ईर्ष्यावश इनके कुछ सहपाठियों ने ही पंडितजी के कान में इन लोगों के विरुद्ध बातें भर दी हों। पंडितजी ने सोचा इन्हें मजा चखाना चाहिए। अर्ध वार्षिक परीक्षा में एक बहुत ही कठिन प्रश्नपत्र बना कर देने की उन्होंने सोची। इसकी भनक नरेन्द्रदेवजी को लग गई। वह अपने अध्यापक के इस दुर्भाव से क्षुब्ध हो गए। पर इसी समय इनके पुस्तकालय का काम इनके हित का साधक बना। इन्हें याद आया कि पंडितजी पिछले दो वर्षों के इन्ट्रेंस परीक्षा के प्रश्नपत्र पुस्तकालय से निकलवा कर ले गए हैं। इन्होंने अनुमान कर लिया कि हो न हो उन्हीं प्रश्नपत्रों से प्रश्न पूछे जाए। अतः नरेन्द्रदेव ने उनकी नकल करके अपने सभी साथियों को उनके प्रश्नों के उत्तर तैयार करा दिए। हुआ भी ऐसा ही, प्रश्नपत्र आने पर अधिकांश प्रश्न उन्हीं में से थे। सभी ने खूब डटकर उनका उत्तर दिया। लाचार होकर पंडितजी को अंक भी अच्छे देने पड़े। नरेन्द्रदेव को पचास में छियालीस अंक मिले। इसे भी मेधा ही कहा जाएगा।

पिता की देख-रेख और स्नेह-सम्बल में पलने वाले बालक नरेन्द्रदेव का बचपन प्रायः तत्कालीन गृहस्थो के घरो मे होने वाले सस्कारो से अछूता नही रहा। इनका उपनयन सस्कार भी इनके पिता ने, जब वह दस वर्ष के थे, तभी करा दिया। यज्ञोपवीत धारण करने के बाद नित्य संध्या-वंदन करना इनकी आदत बन गई थी। पिता के साथ नित्य ही ये संध्या, गायत्री और गीता पाठ करते थे। पिता ने महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण की देख-रेख में इन्हें सस्वर वेद पाठ का भी अभ्यास कराया। वेदो और वैदिक सस्कृति से परिचय और उसकी छाप इन पर बचपन में ही पड़ी। आगे चलकर इनके जो भी विचार बने और जितना भी गहन अध्ययन इन्होंने इतिहास और दर्शन का किया, वह इस बात को बराबर स्वीकार करते रहे कि हमारी संस्कृति और सभ्यता का मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय में मिलता है। संस्कृत का अच्छा ज्ञान उन्हें बचपन से ही होता जा रहा था, इसका प्रधान कारण था कि उन्हें अमरकोश और लघु कौमुदी की शिक्षा उसी समय दी जा चुकी थी। इसके कारण आगे चलकर उन्हे बडी सुविधा मिली। वह आसानी से अपने देश के विविध दर्शनो, संस्कृति और इतिहास के मूल ग्रंथों को स्वयं पढ सके और उन्हे अनुवाद का सहारा नहीं लेना पड़ा। उन दिनों भारतीय घरों में तुलसीकृत रामचरित मानस, हिन्दी महा-भारत, सूरसागर और ब्रजविलास का बड़ा आदर होता था। प्रायः सभी घरों

की थोडी-बहुत पढी-लिखी महिलाएं और पुरुष इन्हे नियमित रूप से पढते थे और जीवन की नैतिकता और सदाचार को अपनाते थे। यह आचरण समाज को सम्बल दिए रहता और उसे पतनोन्मुख होने से बचाते रहने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ था। उन्हें भी रामचरित मानस, महाभारत और सूर-सागर बचपन मे ही पढने को मिल गए। यह पहले कहा जा चुका है कि उनके घर का संस्कार सनातन धर्म के आधार पर बना हुआ था; अतः वह उसी सस्कार मे पले और आर्य समाज के प्रभाव से न केवल अछूते रहे वरन् उसकी शाब्दिक कटुता से दुखी भी होते रहे। पर ज्यों-ज्यों ये बड़े होते गए और उनकी विचार-शक्ति सयमित, नियोजित और स्वतन्त्र होती गई, उन्हें सनातन धर्म के आचार-व्यवहार मे भी संकीर्णता और साम्प्रदायिकता दिखने लगी। भारतीय धर्म का उदार स्वरूप उसमे धूमिल होता दिखा, अतः वह उसकी सकीर्णता से भी अपने को मुक्त करने लगे और अततः उन्होने अपने जीवन का आधार उस नैतिक और सांस्कृतिक विरासत को बनाया, जिसे भारतीय कहा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता का एक दूसरा अर्थ भी ब्रिटिश शासकों के चलते मिलने लगा था। अगर वह अर्थ इस शब्द पर थोपा गया होता, तो सम्भव था इसका उत्कर्ष दूसरे रूप मे ही हुआ होता और यह सनातन धर्म को भी इस नए और दोषपूर्ण अर्थ से बचा ले जाता। सम्प्रदाय का अर्थ है सम्यक् रूप से देना। इस अर्थ मे सनातन धर्म, आर्य समाज, बौद्ध धर्म और जैनादि दूसरे सभी धर्म वस्तुतः सम्प्रदाय ही होते और सभी मानव-कल्याण के लिए धर्म का मार्ग प्रशस्त करते रहते। सच बोलना, चोरी न करना, परदुखकातर होना, दया करना आदि आचरण सभी सम्प्रदायो मे मनुष्य के धर्म माने गए हैं। वस्तुतः धर्म का सम्बध मानव आचरण से है। उसका पूजावाद, ईश्वर में उसकी आस्था, अनास्था उसके धर्माचरण में बाधक नही होते। पूर्णत. धार्मिक होते हुए भी मनुष्य अपनी आस्था के अनुसार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि हो सकता है। उसका आस्थाभाव और तदनुसार ईश्वर की कल्पना, उसकी पूजा-अर्चना करते हुए समाज से मिले हुए ऋण को चुकाते रहना उसका सम्प्रदाय है। पर इसे शासन की अंग्रेजी कूटनीति से धक्का लगा और मूलतः यह हिन्दू-मुसलमान-दो प्रधान जातीय भावनाओ को, एक दूसरे से अलग करने के लिए प्रयुक्त होने लगा। हिन्दू-मुसलमानो मे दंगे कराए जाने लगे और उन्हे

साम्प्रदायिक दंगे कहा जाने लगा। जीवन का साम्प्रदायिक रूप जिसमें सब मिलकर एक दूसरे का हित कर रहे हों, नष्ट हो गया। सौभाग्य से नरेन्द्रदेव की बाल्यावस्था में इनके नगर फैजाबाद में साम्प्रदायिक जीवन नष्ट नहीं हुआ था। फैजाबाद के हिन्दू-मुसलमान एक ही सम्प्रदाय के रूप मे रह रहे थे। उनके आपसी सम्बंध अच्छे थे। दोनों ही एक दूसरे के उत्सवों, पर्वों और त्योहारों मे एक से होकर भाग ले रहे थे। यहां तक कि बहुत से हिन्दू मुहर्रम के अवसर पर ताजिया भी रखते थे और शिया मुसलमानो की तरह शर्बत पिलाते थे। तब तक अवध के पुराने नवाबों द्वारा किया हुआ हिन्दुओं के साथ अच्छा व्यवहार अपना असर बनाए हुए था। अवध के पुराने नवाब हिन्दुओं की भावनाओं का बहुत आदर करते थे। हनुमानगढ़ी, जो पहले एक छोटा किला था, उन्होने ही एक साधु को दान मे दिया था और मंदिर के रख-रखाव के लिए कई गांव भी दिए थे। बहुत से शिया परिवारो में गाय का गोश्त इसलिए नही खाया जाता था कि उससे उनके हिन्दू पडोसियों की भावनाओ को ठेस पहुंच सकती थी। बालक नरेन्द्रदेव के मन पर इस साम्प्रदायिक जीवन का, उसके शील तत्व का, पारस्परिक सामाजिक व्यवहारका जबरदस्त प्रभाव पड़ा और उनके चरित्र मे यह शील विशेष आकर्षक तत्व के रूप में सदा प्रतिभासित होता रहा। उनके इस शील के कारण उन्हें अपने राजनीतिक जीवन मे कष्ट भी उठाना पड़ा, पर उसकी चर्चा यहां अप्रासांगिक होगी। यहां यही कहना है कि नरेन्द्रदेव अपने बचपन के इस परिवेशजन्य प्रभाव के कारण आजीवन उस साम्प्रदायिकता से सदा दूर रहे जिसका बीजारोपण और प्रसार अंग्रेजों ने किया था।

बचपन मे ही नरेन्द्रदेवजी अपने पिता की सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक प्रतिष्ठा के कारण कई महान व्यक्तियो के सम्पर्क में आए। प्रारम्भ मे जिन व्यक्तियो से सम्पर्क हुआ, उनमे पं० माधवप्रसाद मिश्रा, स्वामी रामतीर्थ और मालवीयजी थे। स्वामी रामतीर्थ और मालवीयजी के नाम से तो देश के सभी शिक्षित परिचित हैं। माधवप्रसादजी उस दृष्टि से विख्यात व्यक्ति तो नहीं थे, पर अपने समय के समाज मे उनका एक विशेष स्थान था और नरेन्द्रदेव के पिता से अत्यंत स्नेह के कारण फैजाबाद आने पर महीनों इनके ही घर रहा करते थे। उन्हें बंगला भाषा से विशेष प्रेम था और उन्होंने बंगला पुस्तक 'देशेर कथा' का हिन्दी अनुवाद भी किया था। वह राष्ट्रीय विचारों के उदार

व्यक्ति थे। उनका बंगला और संस्कृत प्रेम नरेन्द्रदेवजी को प्रभावित किए बिना न रह सका। नरेन्द्रदेवजी का मूल नाम अविनाश लाल बदल कर उन्होंने ही उसे नरेन्द्रदेव कर दिया था। ये दोनों ही नाम नरेन्द्रदेवजी के जीवन में सार्थक हुए। पिता का दिया हुआ अविनाशी नाम उन्हें अक्षय कीर्ति का भाजन और अविनष्ट बना गया और मिश्राजी के दिए हुए नाम से वह मनुष्यों में नरेन्द्र हुए और देवगणों के समान ही पूजित भी।

नरेन्द्रदेवजी पर मालवीयजी और स्वामी रामतीर्थ का भी गहरा प्रभाव पड़ा था। मालवीयजी तो उनके कुल-शील के अनुरूप ही शुद्ध सनातनधर्मी ब्राह्मण थे। पर उनमें इतना ही नहीं था। मालवीयजी भी मानव के नैतिक गुणों को सर्वाधिक महत्व देते थे और उनका विश्वास था कि अच्छी शिक्षा मनुष्य के चरित्र और स्वभाव को न केवल उदात्त बनाती है, वरन् समस्त मानव में एक ही आत्मा के दर्शन करने की सामर्थ्य भी देती है। मालवीयजी मानव समाज और पृथ्वी के बाहर के स्वर्ग और मोक्ष की कामना से परे थे। मानव समाज की सेवा ही उनका परम धर्म था। श्रीमद्भागवत् का एक श्लोक उन्हें बहुत प्रिय था, जिसमें कहा गया है कि ऋद्धि और सिद्धि लेकर क्या होगा। संतप्त प्राणियों का तापहरण ही श्रेयस्कर है। मालवीयजी देशसेवा के लिए बारम्बार जन्म लेना चाहते थे। उनके इस व्यक्तित्व का, उनके चरित्र के इस पक्ष का बालक नरेन्द्रदेव पर बहुत प्रभाव पड़ा। सन् 1904 में फैजाबाद आने पर नरेन्द्रदेवजी ने उनके प्रथम दर्शन किए थे और अपने पिता के साथ भगवद्गीता का नित्यपाठ करते हुए उन्हें जो गीता सम्पूर्ण रूप से कठस्थ हो गई थी, उसके कुछ अश उन्होंने मालवीयजी को सुनाए थे। उनके मुख से संस्कृत का इतना शुद्ध उच्चारण सुनकर मालवीयजी महाराज बहुत प्रसन्न हुए थे। स्वामी रामतीर्थ का भी नरेन्द्रदेव पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनसे ही उन्होंने अपने जीवन की एक विशेष-भावना अपरिग्रह-भावना का पोषण किया। ऐसा लगता है कि स्वामी रामतीर्थ उनके पिता के पास कई बार आए थे। स्वामी राम के बारे में कुछ कहना निरर्थक ही होगा। भारतीय संस्कृति के इस अनमोल रत्न को कौन नहीं जानता होगा। पर उस घटना का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है, जिसका प्रभाव नरेन्द्रदेव के सदाचार, सादे जीवन और अपरिग्रह भावना पर पड़ा। एक बार स्वामीजी इनके यहां ठहरे थे। पंडित माधवप्रसाद मिश्रा भी-जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है— वहीं ठहरे

थे। स्वामीजी चलते समय अपनी यात्रा के लिए आवश्यक सामान व्यवस्थित करने लगे। उसे देखकर माधवजी ने सम्भवतः यों ही कह दिया होगा कि सन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता होनी चाहिए। बस इतना सुनना था कि रामतीर्थ अपना सारा सामान छोडकर चल दिए। पहाड़ की यात्रा पर जा रहे थे। वहां पहुंचकर उन्होने एक पत्र लिखा "राम खुश है।"

नरेन्द्रदेवजी के बचपन की बहुत-सी बातो का विस्तार तो नही मिलता, पर जितना भी मिलता है वह सब आज के बालको के लिए स्पृहणीय, अनुकरणीय और प्रेरणादायक होना चाहिए। नरेन्द्रदेव का विद्यारम्भ और कुछ आगे की पढ़ाई घर पर ही हुई। उनके पिताजी ने स्वय बच्चो के लिए कुछ पुस्तकें लिखी थीं। ऐसा लगता है उन दिनों प्रारम्भिक कक्षाओ मे जो पाठ्य पुस्तके पढाई जाती थीं, वह विषय और भाषा दोनो ही दृष्टियो से इनके पिता को उचित नही लगी थी। तभी तो उन्होंने स्वय इस प्रकार की पुस्तकें लिखने की सोची होगी। उन्हीं पुस्तकों के आधार पर उनकी पढ़ाई प्रारम्भ हुई। यह पहले भी लिखा जा चुका है कि उनके पिता उन्हे अपने साथ कचहरी भी ले जाया करते थे और वहीं समय निकाल कर स्वयं पढ़ाते थे। पिता किस या किन विषयों को पढ़ाते थे, यह भी ज्ञात नहीं होता, पर अनुमानतः वह उन्हें संस्कृत, फारसी तथा नीतिपरक विषयों को पढाते रहे होंगे। अंग्रेजी के लिए उन्होने अपने एक मित्र से आग्रह कर रखा था। वह ही उन्हें अंग्रेजी पढ़ाते थे। नियमित रूप से अध्यापक के रूप में घर पर ही आकर पढ़ाने वाले शिक्षक पं० कालीदीन अवस्थी थे, जो इनके साथ इनके अन्य भाई-बहनों को हिन्दी, गणित और भूगोल पढ़ाया करते थे। नरेन्द्रदेव के चार भाई और दो बहनें थीं। नरेन्द्रदेव क्रम मे दूसरे थे। इनके बड़े भाई महेन्द्रदेवजी थे, जो लालजी के नाम से जाने गए और फैजाबाद के सुप्रसिद्ध वकील हुए। इनके भाई सुरेन्द्रदेव थे, जो युवावस्था में ही कालकवलित हो गए। सबसे छोटे भाई योगेन्द्रदेव फैजाबाद के नामी डाक्टर हुए।

सन् 1902 मे बारह वर्ष की अवस्था मे नरेन्द्रदेव का दाखिला फैजाबाद के स्थानीय स्कूल में हुआ और सन् 1906 मे उन्होंने इन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके बाद वह स्वयं बनारस में सेंट्रल हिन्दू कालेज में पढना चाहते थे। इस स्कूल के प्रति आकर्षण सम्भवतः महामना मालवीयजी और श्रीमती एनी बेसेंट के नामों के कारण हुआ होगा। पर उनके सहपाठियों ने उन्हें अपने

साथ प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज मे अपने ही साथ पढ़ने को प्रोत्साहित किया। यहां पढते हुए उन्हें चेचक हो गई, अतः एक वर्ष का इनका नुकसान हुआ। यहां रहते हुए भी वह अपने अध्यापकों के प्रिय पात्र बने। वह अपने सभी अध्यापकों का आदर करते और कभी अवसर आने पर भी उनकी नुक्ता-चीनी नही करते। इस प्रसग में यह कहा जाता है कि इनके एक अध्यापक प्रो० स्टूअर्ट थे, जिन्हें प्राचीन भारतीय इतिहास का समुचित ज्ञान नहीं था। दूसरे विद्यार्थी इस बात को लेकर प्रो० स्टुअर्ट की अक्सर बुराई करते, पर नरेन्द्रदेव ने अपना संयम और शील कभी नहीं छोडा। मध्यकालीन इतिहास इन्होने प्रो० ब्राउन से पढ़ा। म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ते हुए वह महामहोपाध्याय डा० गगानाथ के भी शिष्य हुए। डा० गगानाथ झा मैथिल ब्राह्मण थे और उन्होंने अपने कुल की कीर्ति-पताका को बहुत उज्ज्वल किया था। सस्कृत विद्या का अध्यापन ही इनके कुल की परम्परा रही। अपने पूर्वजों के दिए हुए ज्ञान और परम्परा को डा० साहब ने बहुत आगे बढ़ाया। नरेन्द्रदेवजी इनके पांडित्य और प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए।

उन दिनों इलाहाबाद के मेधावी विद्यार्थी प्रायः ही तत्कालीन शीर्षस्थ सरकारी सेवा में, जो इंडियन सिविल सर्विस के नाम से जानी जाती थी, प्रवेश पाना न केवल गौरव की बात मानते थे, वरन् अपनी शैक्षिक योग्यता का चरम प्रमाण मानते थे। नरेन्द्रदेवजी भी आई० सी० एस० की परीक्षा के लिए इंग्लैंड जाना चाहते थे। इलाहाबाद में पढ़ते हुए नरेन्द्रदेवजी का सम्बंध कुछ तत्कालीन क्रांतिकारियों से होने लगा था। इस विषय मे विस्तार से अन्यत्र लिखा जाएगा। इसी प्रभाव में इनके चार और साथी भी आ गए थे। इन लोगों ने इस बात की संकल्पना की कि आई० सी० एस० में प्रवेश पाकर शासकीय सेवा में आ जाना चाहिए, ताकि जब भारत मे क्राति हो, तब जिलों का शासन क्रांति की दशा में भारतीय हाथो द्वारा सम्भाला जा सके। इसी उद्देश्य से यह पांचों साथी इंग्लैंड जाना चाहते थे। पर नरेन्द्रदेव की माता ने उन्हें विदेश जाने की आज्ञा नही दी। उन दिनों समुद्र यात्रा करना या विदेश जाना सनातन धर्मी लोग उचित नहीं मानते थे। नरेन्द्रदेव के अग्रज विद्वान डा० भगवानदासजी के विदेश जाने पर उनका जाति बहिष्कार कर दिया गया था। भगवानदासजी ने इसके विरुद्ध अदालत में मुकदमा भी लडा था, पर यह सब बातें यहां जरूरी नहीं। इतना ही पर्याप्त होगा कि माता की

आज्ञा का उल्लंघन क्रांतिदर्शी होने वाला और क्रांतिकारी होता हुआ युवक नरेन्द्रवदेव न कर सका। इनके अन्य चारों साथी इंग्लैंड चले गए।

बी० ए० की परीक्षा पास करने के बाद नरेन्द्रदेव पुरातत्व पढ़ने काशी चले गए। उन दिनों इस विषय का अध्यापन क्वींस कालेज काशी में ही होता था। वहीं से इन्होंने एम० ए० की परीक्षा पास की। उन दिनों काशी क्वींस कालेज में विख्यात विद्वानों का जमघट-सा था। इसमें देशी-विदेशी दोनों तरह के विद्वान थे। डा० वेनिस तो प्रिंसिपल ही थे। उनके अलावा पं० केशवदेव शास्त्री, प्रो० नारमन, महामहोपाध्याय श्रीराम शास्त्री, पं० जीवननाथ मिश्र आदि कई विद्वान थे। डा० वेनिस, केशवदेव शास्त्री और प्रो० नारमन संस्कृत, प्राकृत, पालि और पुरातत्व की शिक्षा दे रहे थे। इन्हीं तीनों गुरुओं से नरेन्द्रदेवजी ने भी इन विषयों की शिक्षा ग्रहण की। ऐसा लगता है कि नरेन्द्रदेव की जिज्ञासा प्रारम्भ से ही बहुविध ज्ञान में थी। उनकी ज्ञान-पिपासा न केवल निरंतर बढ़ती रही, वरन् एकांगी होने से भी बचती रही। पुरातत्व के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने अलंकार-शास्त्र एवं न्याय का भी अध्ययन किया। यह उस समय की विशेषता ही थी कि अध्यापक और विद्यार्थी दोनो में ही विद्या के प्रति आदरनिष्ठा और परिश्रम का सकल्प था। डा० वेनिस का अध्ययन बहुत ही गम्भीर और विविध था। वह अर्वाचीन पाश्चात्य दर्शन के साथ-साथ प्राचीन यूनानी दर्शन के भी ज्ञाता थे। भारत आने पर उन्होंने भारतीय पद्धति से वैदिक वाङ्मय का गहन अध्ययन किया और अपने जमाने के शीर्षस्थ विद्वान माने गए। उनके द्वारा अनूदित संस्कृत ग्रंथ आज भी आदर से देखे जाते हैं। भारतीय इतिहास मे उनकी विशेष रुचि थी और वह प्राचीन शिलालेखों और मुद्राविज्ञान के विशेषज्ञ माने जाते थे। एम० ए० के द्वितीय वर्ष में डा० नारमन और डा० वेनिस दोनों ही नरेन्द्रदेव को पढ़ा रहे थे। नरेन्द्रदेव प्रातः उठकर डा० वेनिस के निवास पर पढ़ने जाते और तीसरे पहर नारमन साहब के घर। दोनों ही इन्हें अपने घर पर ही पढ़ाते। ऐसा किसी नियम के कारण नहीं, वरन् इसलिए कि जिन विषयों और प्रश्नपत्रों को नरेन्द्रदेव ने द्वितीय वर्ष में लिया था, उनके लिए यही सुविधाजनक था। इस पर न तो अध्यापकों को आपत्ति थी और न ही विद्यार्थी को। प्रत्युत् दोनो ही ओर से उत्साह और परिश्रम ही था। डा० वेनिस इपीग्राफी, पेलियोग्राफी और न्यूमेस्मेटिक पढ़ाते थे। प्रो० नारमन

जर्मन, फ्रेंच, पालि और प्राकृत पढ़ाते थे। प्रो० नारमन धम्मपद पर बुद्धघोष की टीका 'अट्ठ कथा' प्रकाशित कर रहे थे और कभी-कभी उसके अंश सुनाया करते थे। नरेन्द्रदेव का बौद्ध धर्म और दर्शन मे रुचि लेने और आगे चलकर विस्तृत अध्ययन का एक कारण यह भी था।

इस सम्बध में एक परिपाटी का जिक्र बहुत प्रासगिक न होते हुए भी रुचिकर जान पड़ता है। इससे तत्कालीन विद्यार्थी-अध्यापक सम्बंधो और उनकी विद्याभिरुचि का पता चलता है। डा० वेनिस ने जब क्वींस कालेज मे प्रिंसिपल का पद सभाला, तो वह एक दिन कालेज का निरीक्षण करने निकले। एक कमरे में देखा कि पडितजी गद्दी पर मसनद लगाए बैठे है और विद्यार्थी उनकी कक्षा मे कुश्ती लड़ रहे हैं। फर्श मे लगी पत्थर की पट्टियो को किनारे रखकर फर्श को अखाडे का रूप दे दिया गया था। वह मन में बहुत प्रसन्न हुए कि यहां के सस्कृत विद्यार्थियों को शारीरिक अभ्यास की शिक्षा दी जा रही है। कमरे मे जाकर पडितजी को साधुवाद देने के लिए बुलाया। पर पडितजी से बात करने पर कुछ दूसरी ही बात का पता चला। पडितजी ने उनसे कहा कि यह कालेज ब्रिटिश सरकार का खोला हुआ है। जीविका का दूसरा साधन न होने के कारण मैंने यहा नौकरी कर ली है, पर वेतन लेकर विद्या-दान करना उचित नही है। अतः वेतन के प्रतिफल मे वह विद्यार्थियो को शारीरिक व्यायाम कराते हैं। पर इन्हीं विद्यार्थियों को घर बुलाकर उनके विषय का अध्यापन करते है। यह तो स्पष्ट है कि वेनिस और नारमन ने विद्यार्थियों को घर पर भी पढ़ाने की परम्परा इस कारण नहीं अपनाई, पर इन देशी विद्वानों का विद्यार्थियों के प्रति स्नेह और उनकी कल्याण कामना का उन पर प्रभाव जरूर पड़ा होगा। इसी प्रसग में अध्यापन की एक दूसरी परम्परा का भी जिक्र करना जरूरी लगता है, जिसके कारण भी नरेन्द्रदेव जैसे विद्यार्थियो का बड़ा लाभ होता रहा होगा। डा० वेनिस के पास शिला-लेखों की जो प्रतिलिपियां भारत सरकार से आती थी, उन्हें वह अपने अध्ययन और विशेषज्ञता का गोपनीय विषय नही बनाते थे। उन्हें वह सामूहिक अध्ययन और पाठशोधन का विषय बनाते और विद्यार्थियों का भी सहयोग लेते। वह सामूहिक अध्ययन का विषय बनता था। उन दिनो पश्चिम में, विशेष कर जर्मनी, फ्रांस और इटली मे प्राचीन भारतीय इतिहास और सस्कृति की ओर विशेष रुचि जाग्रत हो गई थी। वहां के विद्वान इस सम्बंध में तत्-तत

भाषाओं में लेख लिखते थे जो वहां की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। डा० वेनिस उन्हें मंगाकर अपने विद्यार्थियों और सहयोगियों के साथ उनकी सामूहिक समीक्षा करते थे। इस प्रकार ज्ञानोन्मेष का द्वार प्रशस्त होता रहता। उन दिनों क्वींस कालेज में भारत की प्राचीन लिपियों के ऐतिहासिक विकास-क्रम का भी अध्ययन होता था। प्राचीन लिपियों में ब्राह्मी, कुषाण और गुप्त लिपि विशेष अध्ययन की लिपियां थीं। यह केवल आकस्मिक नहीं था कि सम्पूर्णानंदजी ने नरेन्द्रदेवजी से सन् 1947 मे नागरी लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता करने का अनुरोध किया और नरेन्द्रदेवजी की अध्यक्षता में उस समिति ने काम किया। लेखक को भी उस समिति के सदस्य सचिव के रूप में काम करने का सौभाग्य मिला। नरेन्द्रदेवजी की ऐतिहासिक दृष्टि नागरी लिपि के स्वरूप को बहुत कुछ अक्षुण्ण बनाए रखते हुए आधुनिक तकनीक के लिए भी सहायक सिद्ध हुई।

यदि वह शिक्षक ही रहते

काशी विद्यापीठ के संस्थापक बाबू शिवप्रसाद गुप्त उनके सहपाठी थे और मित्र भी। यह मित्रता भी साधारण नहीं थी। शिवप्रसादजी स्वयं उग्र राष्ट्रवादी थे। इस दृष्टि से नरेन्द्रदेवजी एवं शिवप्रसादजी में कुछ विचार-साम्य भी था और कुछ स्वभाव-साम्य भी। गांधीजी के आह्वान पर शिवप्रसादजी ने राष्ट्रीय शिक्षा के लिए काशी विद्यापीठ की स्थापना की। राष्ट्रीय शिक्षा और हिन्दी के समर्थक और उपासक होने के नाते उन्होंने काशी विद्यापीठ की स्थापना के लिए दस लाख रुपये का दान किया और हिन्दी के विकास और पोषण के लिए ज्ञान मंडल प्रेस और दैनिक 'आज' अखबार का संचालन भी किया। यहां एक बात और कहना जरूरी जान पड़ता है कि काशी विद्यापीठ की स्थापना एक विशेष राजनीतिक वातावरण में तो हुई, किन्तु शिवप्रसादजी के मन मे सरकारी सहायता से सर्वथा मुक्त एक शैक्षिक संस्था की स्थापना का विचार पहले ही घर कर चुका था। उनका ऐसा विचार था कि सरकारी सहायता ले लेने पर कोई संस्था स्वतंत्र विचारों का केन्द्र नही बन सकती और उसको सही अर्थों में राष्ट्रीय विद्यापीठ नही कहा जा सकता। अपनी विदेश यात्रा में वह जापान में एक ऐसी संस्था का प्रतिमान देख भी चुके थे। स्वदेश लौटने पर उनके मन मे एक ऐसी संस्था की स्थापना की जरूरत स्वतंत्र रूप से भी काम कर रही थी। जब मालवीयजी ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की तो शिवप्रसादजी उससे बडे सक्रिय रूप में जुड़े, किंतु जब मालवीयजी ने सरकारी अनुदान स्वीकार कर लिया तो वे प्राय: अलग हो गए और एक स्वतंत्र संस्था के निर्माण पर विचार करने लगे। गांधीजी के सत् परामर्श और डा० भगवानदासजी की सहायता से अपने छोटे भाई स्वर्गीय हरप्रसादजी की स्मृति मे हरप्रसादजी शिक्षा निधि कायम की और इस प्रकार काशी विद्यापीठ का जन्म हुआ। गांधीजी ने ही इसका 10 फरवरी 1921 को उद्घाटन किया था। शिवप्रसादजी के आग्रह पर अपनी दिनोंदिन बढ़ती

हुई वकालत को छोड़कर और एक दृष्टि से अपने को भी यत्किंचित निराश कर नरेन्द्रदेवजी काशी विद्यापीठ में अध्यापन कार्य करने चले आए। काशी विद्यापीठ उन दिनों विश्व-विख्यात संस्था नहीं थी। जो लोग भी उसमें अध्यापन का काम करने आए, वे त्याग की भावना लेकर आए और यह जरूरी नहीं था कि वे लोग अपने विषय के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान रहे हों। अपवाद के लिए इस प्रसंग में डा० भगवानदास और आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द और श्री प्रकाशजी जैसे कई लोगों के नाम छोड़ देने चाहिए। इसी प्रकार विद्यार्थियों की श्रेणी में भी प्राय वे ही विद्यार्थी आए जिन्होंने राष्ट्रीयता की लहर मे पड़कर सरकारी विद्यालयों को छोड़ दिया था, अथवा राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेने के कारण उन्हें सरकारी विद्यालयों से निकाल दिया गया था। जाहिर था कि इसमे भी सभी मेधावी छात्र नहीं थे। फिर भी यहां के जो विद्यार्थी चमके और देश-विदेश मे जिन्होंने अपना नाम कमाया तथा अपने लिए विद्या के क्षत्र मे और समाज में स्थान बनाया, उन्हें भी अपवाद मान लेना चाहिए। विद्या के प्रति नरेन्द्रदेवजी के मन मे जो गहरी निष्ठा और सम्मान था, उसने ऐसे परिवेश मे रहते हुए भी अपनी प्रतिभा के विकास के लिए पूरा अवसर पा लिया। लोगों को यह जानना चाहिए कि नरेन्द्रदेवजी ने इस अवसर का लाभ उठाकर अपने अध्ययन को गहनतम बनाया और अपने विचारो को स्वतन्त्र मौलिक रूप दिया। प्रारम्भ मे अध्यापक के रूप मे आए, बाद में डा० भगवानदासजी की अध्यक्षता मे वे विद्यापीठ के उपाध्यक्ष बने और आगे चलकर स्वय उस पीठ के आचार्य हुए। आचार्यजी के बाल्यकाल के विषय मे लिखते हुए यह कहा जा चुका है कि वह कितने मेधावी तथा अध्ययनशील विद्यार्थी थे। संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, पालि आदि भाषाओं का अध्ययन तो उन्होंने किया ही था, भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं और भारत मे उपजे विभिन्न दर्शनों के साथ बौद्ध दर्शन का विशेष रूप से अध्ययन किया था। पाश्चात्य दार्शनिको, विशेषकर समाज शास्त्रियों के गम्भीर अध्ययन और मनन से उनमे एक विशेष तुलनात्मक दृष्टि उत्पन्न हुई थी। उनके अग्रज और सहयोगी स्वय डा० भगवानदास अपने जमाने के प्रसिद्ध विद्या-व्यसनी माने गए हैं। उनकी दृष्टि प्रायः धर्म, दर्शन, संस्कृत और मनोविज्ञान में बहुत गहरे प्रवेश कर चुकी थी। उन्होंने इन सभी विषयो का अच्छा अध्ययन किया था। उनमें भी चिंतन और मनन की प्राचीन भारतीय परम्परा थी और तुलनात्मक अध्ययन का नवीन दृष्टिकोण

था। उनके साहचर्य मे रहते हुए नरेन्द्रदेवजी को भी उन सभी विषयों मे और गहराई से विचार करने का अवसर मिला।

विद्यापीठ को शिक्षा सस्था के रूप में ऊपर उठाने मे डा० भगवानदास प्रभृति जिन विद्वानों का नाम लिया जाएगा, उनमे आचार्य नरेन्द्रदेव अग्रणी माने जाएगे। यह आचार्य नरेन्द्रदेव ही थे, जिन्होने अन्य जाने-माने स्थापित और पूर्ण विकसित विषयो को पढाने के साथ-साथ आधुनिक भारत के उत्थान का इतिहास भी पढ़ाना शुरू कर दिया था। इस विषय के वह स्वयं निर्माता भी थे और आचार्य भी। उनके विद्यार्थी डा० केसकर के शब्दों में—"प्राय: इतिहास के ऐसे अध्याय का ज्ञान बहुत कम लोगों को था और इसे अच्छी तरह जानने वाला उनके बराबर मुझे कहीं नही मिला। विद्यापीठ मे उन्होने इस विषय को बराबर पढ़ाया। इसमें उनका इतना रस था कि चाव से पढ़ाते थे। इसका कारण यह था कि वह जीवित इतिहास के सम्पर्क में रहे और उसमे भाग लेते रहे।" सम्भवत: जिस प्रकार वह इसे रोचक और प्रेरणादायी बनाकर पढ़ाते थे, उसके कारण उनके व्यक्तित्व में मूलत: विद्यासम्पन्न अध्यापक का दिव्य दर्शन होता था। इसीलिए, बावजूद इसके कि वहा अन्यान्य शीर्षस्थ विद्वान भी थे, उनका विद्यार्थी उनके बिना न तो काशी विद्यापीठ की कल्पना करता था और न वहा रहना चाहता था। प्रमाणस्वरूप उस घटना का उल्लेख किया जाना जरूरी जान पडता है, जो तब हुई थी जब उन्होने पिता की मृत्यु के कारण फैजाबाद जाना चाहा था और चले भी गए थे। इस बात का उल्लेख मिलता है कि उनके चले जाने के बाद काफी समय तक विद्यार्थियो मे उदासी छाई रही और वे उनके बिना इतने हतोत्साहित हुए कि काफी तादाद मे उनके विद्यार्थियो ने आपस मे परामर्श करके यह निश्चय किया था कि उनके बिना काशी विद्यापीठ मे रहना व्यर्थ है, अत. उनका वहा से चला जाना ही उचित है। संयोग की बात कि आचार्यजी काशी विद्यापीठ मे पुन: आ गए। पिता की मृत्यु के पूर्व तक तो नरेन्द्रदेवजी ने सदा अवैतनिक रूप से काम किया था। उनके पिता की यह शिक्षा थी कि समाज सेवा और दान वृत्ति को अपनाते हुए भी अपने परिवार के भरण-पोषण का ध्यान रखना चाहिए। उनके पिता स्वयं दानशील थे। समाज सेवा और दूसरो के उपकार मे काफी व्यय करते रहते थे किन्तु नरेन्द्रदेवजी उनसे भी आगे बढ़े और अपनी आमदनी का एक बड़ा हिस्सा समाज सेवा में खर्च कर देते थे। वह बायो-

कैमिकल दवाएं खरीद कर गरीब रोगियों को मुफ्त बांटते थे बहुत से विद्यार्थियों को सहायता देते रहते थे विद्यापीठ में जब तक वह अवैतनिक रहे पिता उनके व्यय का भार संभाल रहे थे। पिता के निधन के बाद उन्होंने एक सौ पचास रुपये मासिक वेतन लेना स्वीकार किया ताकि अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। विद्यापीठ की ओर से उनकी आवश्यकताओं को देखते हुए इससे कुछ अधिक लेने का बहुत आग्रह किया गया किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इतना ही वेतन दूसरे अध्यापकों को भी मिलता था।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, वह आधुनिक भारत के उत्थान का इतिहास पढ़ाते थे। उनकी नियुक्ति भी इतिहास के अध्यापक के रूप में ही हुई थी क्योंकि उन्हें प्राचीन भारत के इतिहास से लेकर आधुनिक भारत के इतिहास, यहां तक कि तात्कालिक भारत के इतिहास की भी पूरी जानकारी थी और उन सबका उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। उनकी ऐतिहासिक दृष्टि एक समग्र दृष्टि थी जिससे वह भारत का पूरा चित्र देखते थे। भारत का उनका अपना चित्र इतिहास के पन्नों में पड़ा हुआ विगत का रुका या थमा हुआ भारत का चित्र नहीं था। उनका चित्र वह चित्र भी नहीं था जिसे विदेशी इतिहासकार बिगाड़ते जा रहे थे और अपने स्वार्थों के अनुरूप गढ़ते जा रहे थे। उनका चित्र वर्तमान विकासशील भारत का चित्र था जो अपने प्राचीन गौरव की रक्षा करता हुआ जगत को नवीन संदेश देने में सक्षम था। इसी के साथ उन्होंने एशिया के दूसरे देशों के उत्थान और पतन का इतिहास भी पढ़ा था। वह इतिहास को परिवर्तनकारी शक्तियों के पदचिह्नों के रूप में देखते थे, यही कारण था कि समाज को परिवर्तित करने, उसे समर्थ करने और उसे प्रगतिशील बनाने के उद्देश्य से उन्हें राजनीति में दिलचस्पी पैदा हुई थी।

इतिहास के अध्यापन के साथ-साथ वह अपने विद्यार्थी जीवन के विषयों का भी अध्ययन करते रहे। प्रायः पुरातत्व, बौद्ध दर्शन, और उनकी चिन्तनधारा में उनकी रुचि बढ़ती ही रही। विद्यार्थी जीवन में पढ़ी हुई भाषाओं के ज्ञान के कारण वह पालि, प्राकृत और संस्कृत के मूल ग्रंथों से ही नहीं, वरन् फ्रांसीसी भाषा में लिखे गए ग्रंथों से भी बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन करते रहे और नई-नई सामग्री एकत्र करते रहे। इसके आधार पर आगे चलकर उन्होंने 'बौद्ध धर्म दर्शन' नामक एक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा। 'बौद्ध धर्म दर्शन' के अध्ययन के लिए उन्होंने राहुल सांकृत्यायन को भी प्रोत्साहित किया। राहुलजी

1927-28 के आस-पास आचार्यजी के सम्पर्क में आए। उनका तात्कालिक नाम बाबा रामउदार दास था।

उन्होंने नरेन्द्रदेवजी के घर पर ही रहकर आचार्यजी के सहयोग से तिब्बती भाषा से 'अभिधर्म कोष' का संस्कृत मे अनुवाद किया और आचार्यजी के अनुरोध पर ही काशी विद्यापीठ द्वारा 'अभिधर्म कोष' और बाबू शिव प्रसाद गुप्त द्वारा 'त्रिपिटक' का प्रकाशन हुआ। यहां रहते हुए उन्होंने अपने अध्ययन को सर्वांगीण बनाने के लिए उपनिषदों का भी बड़ा गहरा अध्ययन किया और माना कि 'उपनिषदो' की विचारधारा और साधना संसार के अलभ्य रत्नो मे है। भारत मे जिन विशिष्ट विचारधाराओं ने जन्म लिया है, उन सबका मूल स्थान उपनिषदों मे है।

आचार्यजी का विशेष झुकाव बौद्ध दर्शन की ओर हुआ। इसका शायद एक कारण यह भी था कि भगवान बुद्ध के जीवन चरित्र, उनका व्यक्तित्व और उनके विचारो का गहरा प्रभाव उन पर पड़ा था। इसे चाहे निज का आस्वाद कहे या स्वयं अपने व्यक्तित्व की वह विशिष्टता कहे जो अपने को किसी दूसरे के व्यक्तित्व या दर्शनो में मूर्तिमान होता हुआ पाता है। आचार्यजी चाहे अस्वस्थ हों, चाहे जेल मे हों या विद्यापीठ में अध्यापन कर रहे हों, अपने समय का सदुपयोग स्वाध्याय में ही करते थे और उनके स्वाध्याय का अधिकतम समय बौद्ध धर्म की गहराइयो मे उतरने में व्यतीत होता था। बौद्ध धर्म का यदि सारा-का-सारा नहीं तो प्रभूत साहित्य विदेशों मे ही उपलब्ध है। भारतीय भाषाओ में और वह भी हिन्दी मे प्रायः नहीं के बराबर ही है। अधिकांश भाग तिब्बती भाषा मे उपलब्ध है। आचार्यजी चाहते थे कि बौद्ध दर्शन का सब कुछ निचोड़ कर हिन्दी को उपलब्ध करा दें। इतना ही नही, वह बौद्ध धर्म के प्रमुख और आधार ग्रंथों को भी हिन्दी मे उपलब्ध कराना चाहते थे। हिन्दी के प्रति उनके मन मे जो सम्मान था, उस कारण तो वैसा करना वह चाहते ही थे लेकिन एक विशेष कारण यह भी था कि वह बौद्ध धर्म की श्रमण सस्कृति को समाजवाद का नैतिक आधार बनाकर भारत में एक नए समाज को जन्म देने मे सहायक समझते थे। ऐसा करने के लिए उनकी इच्छा थी कि बौद्ध धर्म-दर्शन के अध्ययन के लिए जो भी सामग्री जरूरी है, वह सब हिन्दी मे उपलब्ध हो जाए। इस सम्बन्ध मे विदेशी भाषाओ में बहुत से गवेषणात्मक निबंध और प्रामाणिक ग्रंथ उनकी जानकारी में आ चुके थे। वह चाहते

थे कि यदि वे सब यथारूप में नहीं तो संक्षिप्त रूप में, किन्तु प्रामाणिक रूप मे अनूदित हो जाए। इस दृष्टि से ही उन्होंने हिन्दी मे 'बौद्ध धर्म और दर्शन' नामक अपना ग्रंथ तैयार किया। 5 खंडों और 20 अध्यायो के इस ग्रंथ मे स्थविरवाद की साधना, बौद्ध दर्शन की सामान्य मान्यताएं, प्रतीत्य समुत्पाद-वाद, क्षणभंगवाद, अनीश्वरवाद, कर्मवाद, निर्वाण, बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रांतिक, विज्ञानवाद व शून्यवाद का विषद परिचय और तुलना आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

आचार्यजी अपने अध्ययन को हस्तामलक करके विद्यार्थियो के सामने अत्यंत सरल और रोचक ढंग से प्रस्तुत करते थे। उनके शिक्षण का ढग ही निराला था। पढ़ाते समय विद्यार्थियों के चित्त को विषय मे एकाग्र करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। वह गूढ विषयों को अपने मनन और चिन्तन से इतना सरल बना देते थे कि विद्यार्थियों में उन विषयों को भारी पत्थर समझ कर छोड़ने का भाव ही उत्पन्न नही होता था। बल्कि सच तो यह है कि एक आदर्श शिक्षक के रूप मे वह अपना कर्तव्य समझते थे कि पूर्व और पर पक्ष दोनों ही विद्यार्थियो के सामने आ जाए और ऐसा करते हुए वह उनका समाधान भी प्रस्तुत करते थे। वह विद्यार्थियों मे विवेक बुद्धि जगाना शिक्षक का परम कर्तव्य मानते थे। वह गुरु हैं, अतः अपनी बात उन्हें थोपने का अधिकार है, ऐसा उन्होने कभी नहीं किया। तर्क की प्रतिष्ठा करते हुए वह विद्यार्थियों को अपने साथ ले लेते थे और इस प्रकार विचारों की तरगे समान रूप से गुरु और शिष्य के चित्त को आंदोलित करने लगती थीं। अपने विद्यार्थी जीवन मे डा० वेनिस प्रभृति गुरुओं से जितना स्नेह और आदर उन्होंने पाया था और जिस प्रकार जिज्ञासु और अध्यवसायी नरेन्द्रदेव जैसे विद्यार्थी को उन लोगों ने विद्यालय के बाहर भी अपने घरो पर समय देकर पढ़ाया था, उस गुरु-ऋण को आचार्यजी भी चुकाते रहे। विद्यापीठ मे रहते हुए और उससे बाहर रहने पर भी विद्यार्थियों के लिए उनके घर का दरवाजा सदा खुला रहा और अध्यापन के लिए उनके पास समय की कभी कमी नही रही।

प्रो० मुकुट बिहारीलालजी ने शिक्षक के रूप मे उनके आदर्श बड़े सुंदर शब्दो मे उतारे है। यहा वह अवतरण उन्ही के शब्दों मे देना अनुचित नही होगा, "उन्हें अनेक देशों के इतिहास और अनेक युगो के दर्शन का उच्चतम

ज्ञान था। वह जिस विषय को पढ़ाते थे, उसे वह इतना स्पष्ट, रोचक और सुगम बना कर प्रस्तुत करते थे कि विद्यार्थी उसका अर्थ सरलता से ग्रहण कर सके। इतिहास को पढ़ाते समय वह अतीत की धुधली परिस्थितयों और ऐतिहासिक पात्रो को जीवंत वास्तविकताओं के रूप मे प्रस्तुत कर देते थे। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास का सजीव चित्र वह एशिया के संघर्षों और आर्थिक परिस्थितियों की पार्श्व भूमि में खीचते और एशिया के विभिन्न स्वतत्रता संघर्षों पर व्याख्यान देते समय वह राष्ट्रीय भावना से ऐसे अनुप्राणित हो जाते और उनकी वाणी मे ऐसा चमत्कार पैदा हो जाता कि उनके श्रोताओं को ज्ञान के साथ-साथ राष्ट्र सेवा की सद्प्रेरणा भी प्राप्त होती। जब वह भारतीय आतकवादी, क्रातिकारी आदोलन की चर्चा करते, देश की बलिवेदी पर पतंगो की भांति बलिदान हो जाने वाले साहसी और आत्मत्यागी क्रातिकारी नवुयवको के त्याग और बलिदान को बताते, तब उनके विद्यार्थी ऐसा अनुभव करते कि मानो एक सक्रिय क्रांतिकारी ही उनके सामने बोल रहा है। बौद्ध धर्म और दर्शन पर व्याख्यान देते हुए वह विद्यार्थियों के सामने बुद्ध के भव्य व्यक्तित्व का चित्र खीचते, बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखाओं, प्रशाखाओ का धार्मिक विश्लेषण करते और आर्य शातिदेव के प्रसिद्ध ग्रथ 'बोधिचर्यावतार' के पदो को बहुत अनुप्राणित और आकर्षक ढग से प्रस्तुत करके विद्यार्थियो को समस्त आर्त प्राणियो की सेवा का महत्व बताते और उसकी उन्हे सीख देते।

'बोधिचर्यावतार' के जो पद उन्हे बहुत ही प्रिय थे और जिनको वह विद्यार्थियो को सुनाते थे, उनका सारांश है कि "जब समस्त लोक दुख से आर्त और दीन है, तो मैं ही इस रसहीन मोक्ष को प्राप्त कर क्या करूगा, प्राणियो के सैकड़ो दुखों को स्वयं भोग करके उनके दुखों को हरण करने की कामना करने वालो को और उसे ही अपना सुख-सौभाग्य समझने वालो को बोधिचित्त का परित्याग कभी नही करना चाहिए।"

आचार्यजी कोरे अध्यापक ही नही थे, उनमें प्रबध की निपुणता भी थी तथा वह सिद्धातो पर अटल रहने वाले व्यक्ति थे। उनमे व्यक्ति विशेष के कारण कभी कोई फेर-बदल नही होने देते थे। उनकी यह न्यायप्रियता उनके शील और उनकी नम्रता का सहारा पाकर चट्टान की तरह दृढ बनी रहती थी। एक बार लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर की हैसियत से कार्य

करते हुए उन्होंने चासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू के संदेश को भी मानने से इन्कार कर दिया था क्योंकि उसके मानने में सिद्धांत का हनन हो रहा था और न्याय की उपेक्षा होती थी। ऐसा नहीं कि श्रीमती नायडू ने जान बूझकर कोई संदेश भेजा था। जैसा संदेश आया था, उसे आचार्यजी ने स्वीकार भी कर लिया था, किन्तु जब कार्यान्वित करने के पहले उसकी उन्होंने नियमानुसार जांच की तो उसे असंगत पाया और अस्वीकार कर दिया। श्रीमती नायडू ने भी उनके अस्वीकार को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया था। इसका कारण यह था कि दोनों ओर आदर्श पल रहे थे।

विद्यापीठ के अध्यक्ष की हैसियत से भी वह विद्यार्थियों के शिक्षण-व्यवस्था और कार्यालय के कामों की जांच-पड़ताल करते रहते थे। अध्यक्ष होते हुए भी अध्यापन का जितना भार वह अन्य शिक्षकों को देते थे, उससे कहीं अधिक भार अपने ऊपर लेते थे। प्रबंध की अव्यवस्था उन्हें कभी अच्छी नहीं लगती थी और वह अनुशासन का दृढ़ता से पालन करते और कराते थे। संस्कृत की एक युक्ति इस संदर्भ में उन पर सटीक बैठती है। कहा है—"वज्रादपि कठोराणि, कुसुम कोमलानि च।" अनुशासन में वज्र से भी कठोर और व्यवहार में कुसुम से भी कोमल नरेन्द्रदेवजी का प्रशासन सदैव व्यवस्थित रूप से चलता रहता था।

अध्यापक के रूप में वह आश्रमों की संस्कृति में विश्वास करते थे, जहां आचार्य अपने विद्यार्थियों के गुरु तो होते ही थे, उस कुटुम्ब के पिता भी होते थे। आचार्यजी ने काशी विद्यापीठ को एक कुटुम्ब के रूप में परिणत कर रखा था। क्या कर्मचारी, क्या अधिकारी सभी उस कुटुम्ब के सदस्य थे। आचार्यजी शिक्षक होते हुए भी विद्यार्थियों और कर्मचारियों के प्रति मित्रभाव रखते थे। अपने सहज स्नेह से उनका बराबर मार्गदर्शन करते रहना वह अपने जैसे शिक्षक का परम कर्तव्य मानते थे। विद्यार्थियों के प्रति उनके मन में छोटे-बड़े का भाव नहीं सताता था क्योंकि उन्होंने अपने सदाचार और चरित्र के बल पर उनसे आदर प्राप्त किया और अपने ज्ञान का दान स्नेह के पात्र में भरकर उन्हें देते रहे। विद्यापीठ में रहते हुए एक ऐसा अवसर भी आया था जब आचार्यजी विद्यापीठ के शिक्षकों और विद्यार्थियों के साथ छात्रावास में ही रहे। वहां रहते हुए वह उन्हें पढ़ाते भी थे। बोधिचर्यावतार के पदों एवं क्रांतिकारियों के गानों से उन्हें प्रेरणा भी देते थे। वह उनके आमोद-प्रमोद में

भी शामिल होते रहते थे। एक वर्ष काशी विद्यापीठ के छात्रों ने वार्षिकोत्सव के अवसर पर नाटक करना निश्चित किया। बाबू शिवप्रसाद गुप्त को यह बात पसंद नहीं थी। पर नरेन्द्रदेवजी और श्रीप्रकाशजी ने इस बात का समर्थन ही नहीं किया बल्कि स्वयं इस अवसर पर मुशायरे और कवि सम्मेलन के प्रहसन में शामिल होने का निश्चय भी किया। जब बाबू शिवप्रसाद गुप्त को मालूम हुआ तब वह भी जापानियों जैसे कपड़े पहनकर तथा चीनियों जैसी लम्बी मूछें लगाकर रंगमच पर आ विराजे और सबने उन्हें मिस्टर मोटर के नाम से सम्बोधित करते हुए कवि सम्मेलन का अध्यक्ष चुना। आचार्य नरेन्द्रदेवजी स्वयं मिर्जा टमटम के नाम से पुकारे गए। उस समय नरेन्द्रदेवजी ने हसते हुए कहा था—"टमटम को कौन पूछे है मोटर के सामने। मिर्जा को कौन पूछे है मिस्टर के सामने।"

आचार्यजी मूलतः शिक्षक थे। उन्हे जब बी० ए० पास करने के बाद इस समस्या का सामना करना पड़ा कि वह आगे क्या करें तो उन्होंने कानून की पढाई की अपेक्षा प्राचीन इतिहास मे शोध करना उचित समझा। जब वकालत की तो अच्छी की और यदि वकालत के पेशे मे रहते तो बड़ा नाम भी कमाते। किन्तु जब विद्यापीठ मे अध्यापन का अवसर मिला तो चट वकालत छोड़कर अवैतनिक रूप से भी वहा शिक्षक की हैसियत से चले आए। उन्होने एक जगह स्वयं लिखा है, "मेरे जीवन मे सदा दो प्रवृत्तिया रही है—दोनो की सुविधा एक साथ मिल जाती है तो मुझे परितोष होता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ मे मिली थी। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है जो विद्यापीठ की सेवा में व्यतीत हुआ।" सम्पूर्णानंदजी ने एक स्थान पर जो बात उन्होंने नरेन्द्रदेवजी से कही थी लिखा है, 'आप जो कुछ लिख जाएगे वह देश के लिए तथा विद्वत्समाज के लिए आपकी अपूर्व देन होगी।" नरेन्द्रदेव के अध्ययन और अध्यवसाय को जितनी तरह से और जितनी गहराई से देखा जाए, उतनी ही यह बात स्पष्ट होती है कि यदि वह शिक्षक ही रहते तो भारतीय विचारधारा को, भारतीय शिक्षा पद्धति को और जिज्ञासु समाज को एक अपूर्व देन दे जाते। यह आज भी उनके जानने वालो के मन मे खेद का विषय बना हुआ है कि यदि उनके शरीर ने उनका साथ दिया होता, बीमारी ने उन्हे जर्जर न कर दिया होता, राजनीति ने उनका समय न बाटा होता तो उन्होंने भारतीय ज्ञान-भडार को अक्षय दान दिया होता।

शिक्षा और शिक्षक

यह शीर्षक जान-बूझकर चुना गया है। नरेन्द्रदेवजी बहुत वर्षों तक काशी विद्यापीठ में शिक्षक के रूप मे कार्य करते रहे। वह आदर्श शिक्षक थे, ऐसा माना जाता है। जब वह काशी विद्यापीठ या अन्य विश्वविद्यालयो यथा लखनऊ और काशी विश्वविद्यालय मे कुलपति भी हुए, तब भी वह विद्यार्थियो को अपनी रुचि के विषय पढाने मे रस लेते रहे और उसके लिए समय भी निकालते रहे। अतः शिक्षक के रूप में उनकी क्या भूमिका रही और शिक्षा के सम्बंध मे उनके क्या विचार रहे, इन दोनो को अलग-अलग भी और एक दूसरे को साथ रखकर भी देखना उचित जान पडा।

नरेन्द्रदेवजी का शिक्षक का स्वरूप क्या था, इस बारे मे बहुत कुछ 'यदि वह शिक्षक ही रहते' अध्याय मे लिखा जा चुका है, फिर भी प्रसगानुसार कुछ बातों की पुनरावृत्ति सम्भव है। शिक्षा सम्बधी उनके विचार स्फुट रूप से उनके भाषणों मे ही मिलते है। कुछ विचार बातचीत मे वह समय-समय पर व्यक्त करते रहे, पर उनके सम्बंध मे किसी ने कोई संस्मरणात्मक लेख नही लिखा। शिक्षा के सम्बंध मे उनकी अपनी कुछ धारणाएं और विचार थे जिन्हे कभी भी अनदेखा नही किया जा सकता। उनके आदर्शों और विचारों के कारण ही वह उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा संगठित शिक्षा आयोग के अध्यक्ष भी नियुक्त हुए थे। शिक्षा को वह जीवन के ध्येय से अविच्छिन्न मानते थे। अतः उनके लिए शिक्षा का उद्देश्य स्थिर करने और उसकी व्यवस्था का ढांचा खडा करने के पहले यह आवश्यक था कि जीवन का ध्येय निश्चित कर लिया जाए। यह एक दार्शनिक प्रश्न है। यह प्रश्न उन सभी मनीषियो के सामने बराबर उभरता रहा, जो किसी-न-किसी रूप मे शिक्षा व्यवस्था से जुडे रहे। इस सम्बंध मे सम्पूर्णानदजी और डा० राधाकृष्णन् का नाम सामने आता है। ये दोनों मनीषि भी प्रत्येक अवसर पर, वह जब भी उन्हे मिलता, इस बात का आग्रह करते कि भारतीय समाज को व्यवस्थित रखने के लिए,

राष्ट्र को समृद्ध और सुदृढ बनाए रखने के लिए व्यक्ति के जीवन के ध्येय को स्पष्ट करना अत्यावश्यक है। जब तक मनुष्य के सामने उसके जीवन का लक्ष्य स्पष्ट नही होता, कोई भी शिक्षा उसके लिए उपयोगी नही हो सकती। वह मानते थे कि वर्तमान समय मे हम लोग जीवन का ध्येय ही खो बैठे है। वह चाहते थे कि हम दृढ़तापूर्वक अपने समक्ष ऐसे स्पष्ट और सुनिश्चित ध्येय को, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, रखे, तो हमारी अव्यवस्था दूर हो सकती है। ऐसा कहते समय वह स्पष्ट करते रहते थे कि यह ध्येय व्यक्तिगत जीवन मे मोक्ष प्राप्त करना नही हो सकता। इस सम्बंध में वह बुद्ध और गाधी के साथ थे। वह गाधीजी के आत्मोत्सर्ग को सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मानते थे। नरेन्द्रदेव के लिए जीवन का ध्येय एक ऐसी सृजनात्मक शक्ति को उत्पन्न करना था जिसके द्वारा देश की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए महान राष्ट्रीय प्रयास सम्भव हो सके। यह सृजनात्मक शक्ति ही उनकी दृष्टि मे शिक्षितों मे सामाजिक कर्तव्य और नैतिक दायित्वो के प्रति चेतना उत्पन्न कर सकती थी। इसे वह राष्ट्रीय सम्पदा मानते थे। इसी सृजनात्मक शक्ति में उस महान बौद्धिक प्रयास की सम्भावना देखते थे, जिसके सहारे जीवन से जड़ता को, अनैतिकता को, स्वार्थ को, हिंसा को एवं प्रतिशोध को दूर किया जा सकता है। इसी के सहारे समाज में उत्तम भावनाओ और विवेक को जगाया जा सकता है। वह शिक्षा को सामाजिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप में देखते थे। आधुनिक युग में शिक्षा के सामाजिक प्रयोजन की उपेक्षा की ही नही जा सकती। इसीलिए वह चाहते थे कि शिक्षा के सम्बंध मे शास्त्रवादी और परम्परावादी विचारो के बदले व्यापक और गत्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाए। वह स्पष्ट देख रहे थे कि जिस युग में हम रह रहे हैं, उसमें सामाजिक परिवर्तन बड़ी तीव्रगति से हो रहा है। वैज्ञानिक निष्पत्तियो के आधार पर उसका मूलाधार ही बदल रहा है, प्राचीन मौलिक धारणाएं विवादास्पद हो रही हैं। अबाध रूप से विस्तृत होते हुए ज्ञान के क्षितिज को ओर-छोर तक देखते रहने के कारण वह यह जरूरी समझते थे कि मनुष्य के मानस की ही पुनर्व्यवस्था आवश्यक हो गई है। ऐसी स्थिति मे वह शिक्षा का उद्देश्य और उसकी व्यवस्था इस प्रकार निश्चित करना जरूरी समझते थे कि उसके द्वारा देशवासियो को, विशेषकर शिक्षा प्राप्त करने वाले युवकों और युवतियो को परिवर्तनशील जगत की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम बनाया जा सके। वह चाहते थे कि शिक्षा-व्यवस्था में इतनी

गत्यात्मकता आ जाए कि वह आधुनिक समाज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को संकुचित दृष्टि से नहीं वरन विस्तृत दृष्टि से देख सके वह अपने विद्यार्थियों में जीवन के उन मूल्यों की प्रतिष्ठा कराना चाहते थे, जो आधुनिक विश्व की प्रगति के लिए आवश्यक हैं। वर्तमान जीवन पर विज्ञान और यंत्रकला की छाप को स्वीकार करके ही आगे बढ़ना सम्भव है, यह मानते हुए भी वह इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहते थे कि विज्ञान का दुरुपयोग 'तुच्छ स्वार्थों' की सिद्धि में न किया जा सके। विज्ञान का सच्चा धर्म उसका सामाजिक हित कार्यों में नियोजित होना ही मानते थे।

शिक्षा का अर्थकारी होना आवश्यक है, ऐसा मानते हुए भी उसे समाज के नैतिक उत्थान में उपयोगी बनाना चाहते थे। उनके विचार से शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान और विज्ञान समाज को बनाए रखने के लिए, उसे सुदृढ़ करने के लिए नियोजित होना चाहिए। उन्हें इस बात का खेद था कि "आज विज्ञान का लाभदायक कार्यों के साथ-साथ परस्पर विनाश के शस्त्रास्त्र बनाने में भी उपयोग किया जा रहा है। यहां तक कि सामाजिक विज्ञानों का भी, जो अभी हाल में विकसित हुए है, जनता के विचारों और व्यवहार को बदलने के लिए मनोवैज्ञानिक तरीके से दुरुपयोग किया जा रहा है।" उनकी दृष्टि मे, ऐसा इसलिए सम्भव हो रहा है कि समाज सच्ची शिक्षा से वंचित है। समाज मे न तो सामाजिक और न ही नैतिक मूल्यों का ज्ञान बच रहा है, शिक्षा के अभाव में यह ह्रास नितांत स्वाभाविक है। यह आरोप उन लोगो पर लगाते हैं, जो लोग शिक्षा की व्यवस्था के लिए, विशेषकर शासन की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। आचार्यजी कहते है कि "अधिकार लिप्सा ने हमारी विवेक शक्ति पर पर्दा डाल दिया है, हम साधनो की शुद्धता पर विचार नहीं करते और स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी भी तरीके को अपना सकते हैं, चाहे वह तरीका कितना भी घटिया और अयोग्य क्यों न हो। सारा जन समूह ही अनैतिक हो रहा है, क्योंकि धर्म का प्रभुत्व तेजी से क्षीण हो रहा है और पुरानी परम्पराएं और विश्वास किसी नवीन की सुदृढ़ स्थापना से पहले ही धराशायी हो गए है। जीवन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से हानिकर है। अगर समय रहते इसमे संशोधन नहीं हुआ और उन सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्रधानता नहीं मिली, जिनसे कि विश्व की रक्षा हो सकती है, तो विश्व को एक भारी विपत्ति का सामना करना

पड़ेगा। जैसा पहले लिखा जा चुका है, आचार्यजी शाश्वत मूल्यों को उखाड़ फेंकने के पक्ष में नहीं थे। वह चाहते थे कि विज्ञानवेत्ता, राजनीतिज्ञ और शिक्षाविद् सभी समाज के प्रति अपने दायित्व को समझें और उन नैतिक मूल्यों के प्रकाश मे काम करें, जिनसे समाज की व्यवस्था चल सकती है। उनका यह सामाजिक सरोकार बहुत ही व्यापक और उदात्त था। वह बहुत से पुराने मूल्यो के महत्व को स्वीकार करते थे, जिनकी यथार्थता और उपयोगिता मानव इतिहास में सिद्ध हो चुकी है। पर इसके साथ ही वह ऐसे मूल्यो का भी निर्माण करना चाहते थे, जो आज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को बल दे सकें, सभाल सकें। इन्हें वह युग-धर्म की संज्ञा देते रहे। उनके विचार मे युग-धर्म बराबर बदलते रहे हैं और उन्हे बदलते रहना चाहिए। राष्ट्रीय प्रगति के लिए यह आवश्यक है।

शिक्षा सम्बंधी उद्देश्यो और आवश्यकताओ पर बात करते हुए उनके सामने पूरे समाज का चित्र मुखर हो उठता था। एक ओर जहा वे शिक्षा, शिक्षाविदो और व्यवस्थापकों के आदर्शों, उद्देश्य की बात करते और उनमे व्याप्त कमियों की ओर ध्यान आकृष्ट करते, वहीं वह उस समुदाय को भी सामने रखते, जिसकी जिम्मेदारी शिक्षा के विकास के क्षेत्र में कम नहीं है। वह इस सदर्भ में इस प्रकार चिंतित होते देखे गए है। वह कहते है, "जनता अज्ञानता और और गरीबी के गर्त मे पड़ी हुई है। यद्यपि भारत कृषि प्रधान देश है किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के हिसाब से खाद्य उत्पादन बहुत कम है। हम जनता की आधारभूत आवश्यकताए पूरी करने मे असमर्थ है। मृत्यु संख्या बेहिसाब है। जनता घोर गंदगी मे रहती है। जनता या तो उदासीन है अथवा उद्विग्न मुद्रा मे है।" इस प्रकार के जन समुदाय के चित्र को सामने रखकर जब वह शिक्षा के उद्देश्य को देखते हैं तो उनके स्पष्ट विचार है कि शिक्षा का काम केवल कुशल व्यक्ति पैदा करना नही है। शिक्षा का एक प्रधान उद्देश्य यह भी है कि वह, जो पददलित है उनमें जीवन के उत्थान की 'समुचित आशा' जगाए। समाज के अन्य लोगों के मन मे अपने कमजोर वर्गों को ऊपर उठाने का तीव्र संकल्प जाग्रत कर सके, आपस मे मैत्री भाव और करुणा का उदय करें, जाति भेद को मिटा सकें और प्रादेशिकता से ऊपर उठ सकें। शिक्षा के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय शांति और बुद्धि मे विश्वास पैदा करना और जनतांत्रिक जीवन विधि में दृढ़ आस्था उत्पन्न करना भी एक उद्देश्य होना चाहिए।

थाईलैंड की यात्रा से आने के बाद वह अक्सर इस बात पर भी जोर देते थे कि शिक्षा का एक राष्ट्रीय रूप भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए। जब वह शिक्षा पद्धति में पूर्ण परिवर्तन की बात करते, तो उनके सामने उसके ध्येय के पुनर्निर्धारण की बात बिलकुल स्पष्ट रहती थी। इस कार्य के लिए वह उन लोगों को ही योग्य समझते, जिन्हें वर्तमान समस्याओं के गम्भीर अध्ययन और समाज की नवीन प्रवृत्तियों को समझने का पूरा अवसर मिल चुका है। इस सम्बंध में कोरे शिक्षाशास्त्रीय ज्ञान को वह न केवल निरर्थक समझते थे, वरन् बदतर भी। शिक्षा के क्षेत्र मे सैद्धांतिक स्वतन्त्रता के वह पक्षधर थे। प्राचीन भारत मे शिक्षा पर शासन का नियन्त्रण नही था। वह समाज के लिए परिचालित होती थी और समाज अपनी शिक्षा की व्यवस्था मे दिलचस्पी रखता था। अंग्रेजी हुकूमत मे यह बात बदल गई। विदेशी शासन के जमाने मे शासन समाज से अलग रहकर काम कर रहा था और शिक्षा की व्यवस्था शासन के हाथ में थी। नाममात्र को सैद्धांतिक स्वतन्त्रता जरूर थी। अत समाज और शिक्षा सस्थान मे एक पृथक्करण था, अलगाव था। समाज ने धीरे-धीरे अपने को अलग कर लिया और शिक्षा संस्थान पूर्णरूपेण शासन पर आश्रित हो गए। नतीजा यह हुआ कि शिक्षा में लोगो की दिलचस्पी खत्म हो गई। शिक्षक समाज मे आदर का पात्र नही रह गया। उसका स्थान किसी भी अन्य कर्मचारी के समकक्ष हो गया। तब प्रतिष्ठा का मापदड वेतन बना, जो उसे अत्यल्प ही मिलता रहा। ऐसी स्थिति में शिक्षा की जो दुर्दशा विदेशी शासन मे होनी थी, वही हुई। पुरानी परिपाटी में, अर्थात् भारतीय परम्परा में शिक्षक का स्थान ऊंचा था। उसे गुरुपद आसानी से मिलता भी नही था, पर उस पीठ पर आसीन हो जाने के बाद वह मर्यादा-पुंज और मर्यादा का रक्षक होता था। ऐसा वह अपने ज्ञान के बल पर और समाज में अपनी उपयोगिता को सिद्ध करके बनता था। उसका कार्यक्षेत्र केवल विद्यालय मे ही सीमित नही होता था। आचार्यजी यही चाहते थे। उनका भी कहना था कि "एक अध्यापक को पहले समाज मे अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी पड़ेगी, तब वह समाज मे मान्यता प्राप्त कर सकता है। उसका कार्यक्षेत्र केवल विद्यालय में ही सीमित नही रहना चाहिए, बल्कि राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रो मे इसका प्रसार होना चाहिए। अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए वह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि "उदाहरणार्थ, उसे कोर्स के अतिरिक्त कार्यों में भी लगना चाहिए और सामान्य जन को शिक्षित करने का कार्य अपने हाथ मे लेना

चाहिए। वह विद्या और चरित्र वाला व्यक्ति होना चाहिए और उसमें व्यापक मानव सहानुभूति होनी चाहिए। विचार और आचार में भेद नहीं होना चाहिए। उसे विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समादर करना चाहिए, उसके अंतरतम में प्रवेश करने की कोशिश करनी चाहिए तथा उसकी आवश्यकताएं और कठिनाइयां समझनी चाहिए।" आचार्यजी की इस मान्यता को, उनकी इस स्थापना को यदि आज के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम और प्रबुद्ध जनतंत्र की आवश्यकता के संदर्भ में देखा जाए, तो उलझी हुई समस्या और उसकी जटिलता की कई परतें खुलती नजर आएंगी और आज का शिक्षक-समाज अपने आत्मनिरीक्षण के लिए बाध्य होता दिखाई देगा।

जो शिक्षक हैं अथवा उस कर्तव्य का निर्वहन करना चाहते हैं, उनके कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाते हुए वह कोरे उपदेष्टा नहीं बनते। वह अपनी बात के बीच उन तमाम सरोकारों और सम्बंधों की ओर भी इंगित करते हैं जो अध्यापकों और विद्यार्थियों, अपितु समाज के भी बीच बनने चाहिए। वह कहते हैं कि विद्यार्थियों के मानस का निर्माण करना, उनके चरित्र का विकास करना तथा उनमें जनतांत्रिक भाव भरना अध्यापक का कर्तव्य है। वह उस प्रक्रिया को भी बताते हैं जिसके द्वारा यह सब सम्भव है। वह कहते हैं कि अध्यापक और छात्रों में "स्वतंत्रतापूर्वक विचार-विनिमय होना चाहिए और अध्यापक को विद्यार्थियों पर अपने विचार लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, बल्कि विचाराधीन प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोण उनके सामने रखना चाहिए। जहां तक सम्भव हो, आत्मसंयम की शक्ति को, जो मानव प्रकृति में सन्निहित होती है और जिसमें आत्मानुशासन होता है, प्रोत्साहित करना चाहिए। जो अध्यापक केवल ज्ञान-वाहन करता है, किन्तु विद्यार्थियों के विचार और चरित्र का निर्माण नहीं करता है, वह एक योग्य अध्यापक नहीं है। सच्चा अध्यापक अपने विद्यार्थियों के सम्मान और प्रेम का का भाजन होता है, और उसके लिए अनुशासन का पालन कराना अत्यंत सुलभ होता है। यह कहना गलत है कि इस पीढ़ी के विद्यार्थी ऐसे नहीं रहे। किन्तु यह खेदजनक बात है कि वर्तमान सामूहिक उत्पादन क्रम में अनेक अध्यापकों का भी वह स्तर नहीं रह गया है। राजनीतिज्ञ और अध्यापक, दोनों दुर्भाग्यवश युग के अनुरूप नहीं बन सके हैं। उनमें अपने कर्तव्य और दायित्व की भावना का दुखद अभाव दिखाई देता है।" आचार्यजी यह सब इसलिए कह

सके कि उन्हे स्वयं वास्तव में अच्छे अध्यापकों के चरणों के पास बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उनका यह कथन अपने अध्यापकों के प्रति कृतज्ञतापूर्ण स्मरण मानना चाहिए। वह स्वय आदर्श शिक्षक के रूप में काम करते हुए न केवल शिक्षाविद् बन सके थे, वरन् अपने विद्यार्थियो का समादर करते हुए उनका आदर और स्नेह प्राप्त कर चुके थे।

शिक्षा और शिक्षकों की समस्याओं को बखूबी समझने के कारण वह उनकी तह तक पहुचते थे और मूल कारणो को उनमे से निकाल कर सहज रूप से प्रस्तुत कर देते थे। मानव विज्ञान, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के एकनिष्ठ अध्येता होने के कारण समस्याए उनसे अपने मूल को छिपा नहीं पाती थी। अध्यापक-जीवन की विसगतियो पर प्रकाश डालते हुए वह कहते हैं, "अध्यापक के लिए समाज को अपना सर्वोत्तम अर्पित करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है। अनेक व्यक्ति इस पेशे के लिए अनुपयुक्त है। आमतौर से अध्यापकों को प्रेरणारहित और हतोत्साही परिस्थिति में काम करना पड़ता है। कुछ प्रतिशत लोग, जो अपने पेशे के प्रति ईमानदार हैं और अपनी कठिनाइयों की कुछ भी परवाह नही करते है, वे आत्मार्पण का जीवन व्यतीत करते हैं। आमतौर से अध्यापक जीवन की सभी सुविधाओ से वचित रहता है। उसमे सुरक्षा का भाव नही रहता है, उसका वेतन अपर्याप्त होता है, उसे अपने कार्यों का उचित प्रतिफल नही मिलता है और उसे साधारणतः समाज मे सम्मानजनक स्थान नही मिलता है। (मालूम नहीं, आज की स्थिति मे आचार्यजी के अब क्या विचार होते) काम की दशा भी हमेशा संतोषप्रद नहीं होती है। उसकी संस्था मे कोई सुसज्जित पुस्तकालय नही होता है और साधन तथा आवास की कमी होती है। कक्षा बड़ी होने के कारण उसे अपने सब विद्यार्थियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना भी कठिन होता है।" न्यूनाधिक रूप से ऊपर की कई समस्याओ का कुछ परिमार्जन तो हुआ है, पर स्थिति में गिरावट जारी है। फिर भी आचार्यजी का विश्लेषण अभी भी बहुत हद तक प्रासगिक बना हुआ है।

शिक्षा मे राजनीति का प्रवेश बडी गहराई तक हो चुका है। आए दिन यह देखने को मिलता है कि राजनीति के मैदान में विभिन्न दलों के कुछ राजनीतिक निर्णय होते है। उन निर्णयो पर बौद्धिक विचार-विनिमय या देश और समाज को केन्द्र मे रखकर उनका विश्लेषण तो कदाचित ही कही होता है,

उनके नारों से शिक्षा संस्थानों के खिड़की दरवाजे हिल उठते है। यहीं तक बात नही रुकती। विभिन्न राजनीतिक दलो के गुर्गे विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और दूसरे शिक्षा संस्थानो में निस्संकोच घुसकर चलती हुई पढ़ाई को बंद करा देते हैं, कार्यालयो को बद करा देते हैं और सारे परिसर को उद्विग्न और विषाक्त बना देते है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अध्यापकों मे कई लोग विभिन्न राजनीतिक दलों के सक्रिय कार्यकर्ता या नेता बन चुके होते हैं। इस विषय पर आचार्यजी पुन: अध्यापको के कर्तव्यो की ओर फिर से ध्यान दिलाते हुए अपना अभिमत एक वाक्य में प्रकट करते है, "मैंने कहा है कि अध्यापक का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थियों के जीवन मे उच्च सामाजिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करे। एक अध्यापक तभी उपयोगी हो सकता है, जबकि उसके अदर बौद्धिक ईमानदारी हो और यह तभी सम्भव है, जबकि उसे वैचारिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। यह स्वतंत्रता ही अध्यापक की अमूल्य निधि होती है। उसे सभी विषयो पर सैद्धान्तिक तरीके से अपने विचार व्यक्त करने की अबाध स्वतंत्रता होनी चाहिए। एक सच्चा अध्यापक अपने युग के विवादास्पद प्रश्नों के प्रति उदासीन नही रह सकता है। उदासीनता का भाव, या उससे भी अधिक बुरी बात, अधिकारियों के भय से अपने विचारो को छिपाने की इच्छा उसकी मर्यादा के विरुद्ध है। किन्तु यह स्मरण रहे कि चाहे उसका विचार कुछ भी हो, उसे एक प्रचारक अथवा मंच वक्ता बनने की अनुमति नही दी जानी चाहिए।" ऊपर के वाक्य का दूसरा अर्थ न लगाया जाए, अत: नरेन्द्रदेवजी फिर स्पष्ट करते है कि उनका यह मतव्य नही है कि किसी अध्यापक को अपने देश के सामाजिक और राजनीतिक आदोलन में भाग लेने से रोकना चाहिए। वह स्पष्ट करते है कि "मैं यहां जिस सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहा हू, उसमे खतरे भी सन्निहित हैं। कुछ अध्यापक इस सुविधा का दुरुपयोग करेगे और सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के मान्य स्तर की रक्षा नही कर सकेंगे, वे अपने विद्यार्थियों को सिद्धांत विशेष की दीक्षा देने लगेंगे, किन्तु स्वतंत्रता के दुरुपयोग की आशंका से उसका अपहरण नही होना चाहिए। उल्लंघन होने पर उसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए उचित कार्यवाही की जा सकती है।" दलगत राजनीति से शिक्षक को किस प्रकार ऊपर उठकर विद्यार्थियों की हित-चिन्ता ही प्रधान लक्ष्य बनाना चाहिए, इसका एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। वह कुलपति की हैसियत से अपने निजी वेतन का चालीस प्रतिशत विद्यार्थी कोष में देते थे। यह कोष भी उन्होंने

ही अपने कुलपतित्व काल मे लखनऊ और काशी विश्वविद्यालय में कायम किया था पर उनके लिए यह जरूरी नहीं था कि विद्यार्थी की सहायता का अवसर उपस्थित होने पर वह कोष की ही ओर देखते। इसके अतिरिक्त भी वह अपनी जेब से नगद सहायता दिया करते थे। एक बार एक विद्यार्थी को उन्होंने अपनी जेब से सौ रुपये की सहायता दी। विद्यार्थी ने सहायता लेते समय यह स्पष्ट करना उचित समझा कि वह उन्हे अपनी दलगत राजनीति बता दे। उसने कहा कि "आचार्यजी मे कम्यूनिस्ट हू।" शायद उसने इसलिए भी कहा हो कि आचार्यजी स्तालिनवाद के घोर विरोधी और कटु आलोचक थे। आचार्यजी ने छूटते ही कहा, "मैंने एक विद्यार्थी की सहायता की है। इस सहायता का उसके राजनीतिक विचारो से कोई सम्बंध नही है।"

शिक्षा के एक अन्य किन्तु निगूढतम पक्ष को नरेन्द्रदेवजी बड़ी सहजता से स्पष्ट कर देते हैं। "आज की शिक्षा-व्यवस्था कई स्तरो मे बटी है, बटी रहेगी, यदि उसको सर्वहितकारी और समयोपयोगी बनाना है। सभी विद्यार्थी, विश्व-विद्यालय स्तर या अन्य उच्च स्तरीय शिक्षा के न तो योग्य हो सकते है, और न उन्हे उसकी अपेक्षा हो सकती है। कुछ ऐसे भी हो सकते है, जिन्हे माध्यमिक स्तर के बाद ही किसी अन्य तकनीकी या विषय विशेष की शिक्षा के लिए स्थापित विशिष्ट विद्यालयो या संस्थानों में जाने की जरूरत पड सकती है या परिस्थितिवश उन्हे अलग होना पड सकता है। अत: व्यवस्था की दृष्टि से सारी शिक्षा खंडों मे बटी हुई है। सामान्यत उसका खड रूप खडित रूप मे ही दिखाई पड़ता है। पर वस्तुत: शिक्षा ऐसी वस्तु नही है। आचार्यजी उसके समग्र रूप को देखते और जानते थे। वह मानते थे कि यह धारा एक बार प्रवाहित हो जाने पर अखड है, अपने पूर्व रूप से अविच्छिन्न है। यह बहु-आयामी भी है। अत: प्राथमिक स्तर के संस्कार उच्चतम स्तर की शिक्षा को प्रभावित करते रहते हैं और उच्चतम शिक्षा के उद्देश्य और आदर्श की नीव प्राथमिक स्तर पर ही डाली जा सकती है। उनके अनुसार शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं मे एकता होती है और उच्चतम अवस्था के स्तर मे ह्रास हो रहा है, तो उसका कारण यह है कि नीचे की अवस्था का स्तर जैसा होना चाहिए, वैसा नही है।" यहां यह महत्व की बात है कि उन्होने 'अवस्था' शब्द के प्रयोग से शिक्षा के सावयवी रूप को स्पष्ट किया और धारा के उद्‌भव और विकास को एक दूसरे मे काट कर देखने की प्रवृत्ति का निषेध किया। शंकराचार्य के

लिए शंकर का पैदा होना अत्यावश्यक है। वह एक ही है, जो यहां से वहां फैला हुआ है। अतः शिक्षा के व्यवस्थापकों को यह समग्र दृष्टि अपना कर ही शिक्षा व्यवस्था के लिए आगे बढना श्रेयस्कर होगा।

ज्ञान के क्षितिज के अपार विस्तार की ओर संकेत करते हुए वह विद्यार्थियों और शिक्षकों का उद्बोधन करते हैं। उस पूरे क्षितिज को देखने की सामर्थ्य पैदा करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं और ऐसा मानते हैं कि उसे पूरी तरह ओर-छोर तक देखने के लिए और उसे आत्मसात करने के लिए विज्ञान और तकनीकी का सहारा तो लेना ही होगा, साथ ही सभी विशेषीकृत शिक्षा के अध्ययन-अध्यापन की पृष्ठभूमि में "एक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित सस्कृति और सामान्य शिक्षा" बनाए रखना होगा। उनका ऐसा मानना था कि बिना इस पृष्ठभूमि में किसी वृत्ति विशेष की योग्यता प्राप्त कर लेने से विद्यार्थी जीविकोपार्जन मे तो समर्थ हो जाएगा, किन्तु इससे उसकी जीवन की समुचित तैयारी पूरी नहीं हो सकेगी। आधुनिक युग में विज्ञान के कारण नए ज्ञान का जो विस्फोट-सा हुआ है उसे संभाल सकने के लिए समुचित मानसिक विकास वह आवश्यक मानते थे ,ऐसा लगता है कि वह इस बात से बराबर सशंकित रहे कि बिना मानसिक विकास के यह नया ज्ञान न तो संभल पाएगा, न इसका समुचित उपयोग होगा और न ही यह समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा। सामाजिक कल्याण मे ही विज्ञान की महत्ता है। वर्तमान राष्ट्रीय सघर्षों को, विश्वशांति की महत्ता, अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव में दिनो दिन होती कमी को बराबर देखते रहने के कारण उनकी शंका निर्मूल नहीं थी। एक ओर तो वह विज्ञान और तकनीकी की महत्ता को स्वीकार करते हुए समाज के लिए उसका कल्याणकारी रूप ही देखना चाहते थे, दूसरी ओर उसकी प्रगति के लिए उसमें और अधिक उन्नति के लिए सामान्य शिक्षा और उसके स्तर को इस हद तक उठाते रहना चाहते थे कि वह इन तनावों और संघर्षों के कारणों का ही उन्मूलन करने में सहायक सिद्ध हो। आधुनिक शिक्षा में अतिराष्ट्रवादी भाव-धारा के प्रधान तत्व को वह दुर्भाग्यपूर्ण मानते थे। पर उनकी दृष्टि एक समग्र दृष्टि थी। इतने से ही वह सतुष्ट नही थे। वह जानते थे कि केवल शैक्षणिक प्रयोग से ही इन सब विरोधो का उन्मूलन नही हो जाएगा। "इन लोगों का कारण अधिक गहरा है। इनके कारण न केवल मनोवैज्ञानिक है, बल्कि राजनैतिक और आर्थिक भी हैं। जब तक इन सब कारणो का उन्मूलन नहीं हो जाता है,

तब तक संघर्ष का निराकरण नहीं हो सकता है। शिक्षा इतना ही कर सकती है कि वह अन्य राष्ट्रों के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न करे, और यह बताए कि सामाजिक व्यवहार को कुछ हद तक नियमित किया जा सकता है।"

ऊपर शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप की बात उठी थी। इसके व्यावहारिक पक्ष पर उन्होंने गहराई से विचार किया था और उसके फलस्वरूप जो उन्होंने अपना अभिमत दिया, वह अत्यंत निर्लिप्त, निर्भीक और राष्ट्र की एकता को सर्वोपरि मान कर दिया। इसके पहले कि और कुछ कहा जाए, उनका प्रस्ताव ही देख लेना उचित होगा। वह कहते है, "मेरे विचार से इस प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। मेरा मत है कि विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। सन् 1949 में शिक्षा विभाग की ओर से उपकुलपतियों का जो सम्मेलन बुलाया गया था (तब आचार्यजी लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे) उसमें मैंने यह विचार व्यक्त किया था, किन्तु उस समय इसे पर्याप्त समर्थन नही प्राप्त हो सका। प्रादेशिक भाषा के पक्ष मे निर्णय से शिक्षा मे संकीर्णता को निश्चित रूप से प्रोत्साहन मिलेगा। अंतर-विश्वविद्यालय बोर्ड समान शिक्षा-स्तर की आवश्यकता पर जोर दे रहा है, ताकि एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय मे विद्यार्थियो का आवागमन सुगम हो सके। किन्तु अगर विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया, तो आवागमन बिल्कुल असम्भव हो जाएगा। अध्यापको की नियुक्ति भी प्रादेशिक आधार पर करनी पड़ेगी और चुनाव का क्षेत्र अत्यंत सीमित हो जाएगा। इस कार्य-प्रणाली से शिक्षा स्तर में ह्रास तथा प्रांतीयता में अभिवृद्धि होना अवश्यम्भावी है।" अपने मन का दुख और भावी अवनति का चित्र स्पष्ट करने के लिए वह यूनेस्को के प्रयत्नो का उदाहरण देते हैं। "जब यूनेस्को में बड़े पैमाने पर विद्यार्थियो के अंतर्राष्ट्रीय आवागमन पर विचार हो रहा है और शिक्षा के क्षेत्र मे अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने की योजना बन रही है, हम अभी तक प्रदेश के आधार पर ही सोचने मे लगे हुए हैं, राष्ट्र को भी अपना आधार नही बना सके हैं। जब तक हम विभिन्न प्रदेशों के सांस्कृतिक सम्बंधो को सुदृढ़ नहीं बनाते हैं और बडी संख्या मे ऐसे लोगों को तैयार नही करते जो एक सामान्य भाषा मे अपने सर्वोत्कृष्ट विचारो को व्यक्त कर सकें, तब तक हिन्दुस्तान मे राष्ट्रीय एकता स्थापित नही हो सकती है। अगर हम प्रत्येक विश्वविद्यालयो मे राष्ट्रभाषा को शिक्षा

का माध्यम बना दें, तो यह उद्देश्य सफल हो सकता है। यह क्रम धीमी गति से होगा और ऐसी नीति का अनुसरण करना भी आवश्यक है, किन्तु अगर हम अभी निश्चय नहीं कर लेते हैं, तो विश्वविद्यालयों में शिक्षा का एक सामान्य माध्यम कभी नहीं हो सकेगा। मैं आप लोगों को आश्वासन देना चाहता हूं कि मैं हिन्दी के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टि से प्रेरित होकर यह प्रस्ताव नहीं रख रहा हूं। अगर किसी अन्य भारतीय भाषा को सर्वसम्मति से स्वीकार लिया जाए, तो मैं तुरंत उसे मनवा लूंगा। मेरी एक मात्र आकांक्षा राष्ट्रीय एकता का निर्माण है।" उन्होंने अपने वक्तव्य के अंत में उस मूल उद्देश्य पर जोर देने के लिए यह वाक्य कहा। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि उन्होंने अंग्रेजी नाम तक नहीं लिया। वह राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ भारत की संस्कृति और शिक्षा को भी गुलामी से छुटकारा दिलाना चाहते थे।

राजनीति में प्रवेश

नरेन्द्रदेवजी का स्वभाव कुछ ऐसा था कि वह शायद ही राजनीति मे प्रवेश करते। किन्तु परिस्थितिया व्यक्तित्व, चरित्र और रुचि के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निभाती ही है, कभी-कभी समूची जीवनधारा को ही बदल देती है। नरेन्द्रदेवजी के पारिवारिक परिवेश, पिता की विरासत और शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव को देखते हुए तो यही बात कल्पनीय लगती है कि नरेन्द्रदेवजी को भी अपने पिता के समान धर्माचरण-सम्पन्न मेधावी और सफल वकील बनकर धन कमाने में सफलता मिलनी चाहिए थी। बचपन मे जिन लोगो का प्रभाव उन पर अधिक पड़ा, वे सब मूलतः उदात्त विचारो वाले सनातन धर्मी व्यक्ति थे। जिनसे वह अधिक आकृष्ट हुए, वे भी धर्मात्मा और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति ही थे। कुल मिलाकर उनके इस परिवेश से बाहर जाने की सम्भावना नहीं बनती थी। यदि वह अपने पिता के साथ दस वर्ष की अवस्था में लखनऊ कांग्रेस मे जा पहुचे तो भी उनकी स्थिति एक तमाशबीन बालक की ही थी। पिता द्वारा बताए जाने पर ही वह रानडे, तिलक और रमेशदत्त जैसे महान व्यक्तियो के बारे मे जान सके।

फैजाबाद के बाहर बनारस और इलाहाबाद शिक्षा के केन्द्र थे। श्रीमती ऐनी बेसेंट का सेन्ट्रल हिन्दू कालेज और थियासोफिकल स्कूल धनी-मानी समाज मे आकर्षण का केन्द्र बन चुका था। तब कोई आश्चर्य नही कि नरेन्द्रदेवजी के मन मे भी सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में ही जाकर पढ़ने की इच्छा प्रबल हुई। अगर वह वहा जाकर अध्ययन करते तो अधिकारपूर्वक तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह राजनीति मे, सक्रिय राजनीति मे प्रवेश न करते पर स्वाभाविक रूप से आगे चलते हुए शायद ज्यादा सम्भावना इसी बात की थी कि वे एक अच्छे वकील की हैसियत से फैजाबाद मे अपने पिता के उत्तराधिकारी बनते। यह दूसरी बात है कि तत्कालीन अधिकांश कांग्रेसी नेताओं की तरह वह भी वकील की हैसियत से नेता बनकर कांग्रेस में प्रवेश करते और फिर चाहे उतनी ही

अथवा उनसे अधिक भी देश के लिये कुर्बानी देते। पर ऐसा नही हुआ या नहीं हो सका। वह अपने फैजाबाद के साथियों के साथ सेन्ट्रल कालेज मे इलाहाबाद आए हुए थे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे प्रवेश पाने के पूर्व वह कुछ दिन हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प० बालकृष्ण भट्ट के यहा भी ठहरे थे। वहीं उनका भट्टजी के आत्मजों से भी परिचय हुआ। बालकृष्णजी के लडके पंडित जनार्दन भट्ट बताते हैं कि उनका स्वभाव उस समय भी बड़ा भोला और विनम्र था। हिन्दू बोर्डिंग हाउस में पहुंचने पर उनके विचारों ने सक्रिय जागरूकता अपनाना शुरू किया। तत्कालीन नवयुवको पर, जो कहीं-न-कही से स्वाभिमान का रस पी चुके होते थे, रूस-जापान के युद्ध मे जापान की विजय का निश्चित प्रभाव पड़ा था और ऐसे युवकों मे एशियायी होने के नाते भारत की पहचान अधिक स्पष्ट और अस्मिता की खोज प्रबल हुई थी। नरेन्द्रदेवजी भी उन्हीं युवको में थे। उन्ही दिनों अंग्रेजी हुकूमत ने अपनी प्रभुसत्ता को अधिक सुदृढ और दीर्घजीवी बनाने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों मे भेद का विष-बीज बोना शुरू कर दिया था, बगभंग इस दिशा मे अंग्रेजों का सक्रिय कदम था। पर इसने न केवल बगाल के युवको में बल्कि प्रायः सारे भारत के युवकों मे अंग्रेज विरोधी स्वर को न केवल ऊचा कर दिया, वरन् उन्हे सक्रियता भी प्रदान की। जिन्हे उन दिनो षड्यन्त्रकारी कहा जाता था, ऐसे युवको के गिरोह यत्र-तत्र उभरने लगे और जापान के आदर्श पर अंग्रेजों को सशस्त्र क्रांति के द्वारा भगाने के उपाय ढूंढ़े जाने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस ऐसे ही उग्र विचारो और उनमें विश्वास रखने वाले युवकों का केन्द्र बन गया था। नरेन्द्रदेवजी भी उग्रवादी बन गए। बस षड्यन्त्रकारी होने से बाल-बाल बचे, ऐसा कहने मे उनके प्रति हल्कापन प्रदर्शित करना नहीं है। उनका साथ षड्यन्त्रकारियों से बहुत दिनो तक बना रहा और वह उनकी सक्रिय सहायता भी करते रहे। कांग्रेस पहले से ही अपना काम कर रही थी। उसके इतिहास मे विस्तार से जाने की जरूरत नहीं, पर यहा इतना लिखने की जरूरत है कि इस उग्र विचारधारा को लेकर कांग्रेस दो दलों मे विभक्त हो गई थी। फलस्वरूप नवयुवकों में भी नेतृत्व के लिए दो विकल्प सामने आ गए थे। एक तो वे नेता थे जो संवैधानिक तरीके से, बहिष्कार के बल पर अपनी मांग को प्रबलतर बनाने के हामी थे और दूसरे वे थे जो मानते थे कि यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियो का सशक्त मुकाबला किया जा सकता है और उसके लिए तैयारी भी की जानी चाहिए। इस दूसरे मत के प्रवक्ता नेता

तिलक विपिन चन्द्र पाल श्री अरविन्द घोष और लाला ाय थे नरेन्द्र देवजी इनके विचारो से प्रभावित होने लगे और आगे चलकर तिलक को ही अपना नेता भी मान लिया था। यह स्थिति तब तक रही जब तक गांधीजी का प्रभुत्व स्थापित नही हुआ था।

पिता बाबू बलदेवप्रसादजी न केवल कांग्रेस के प्रति सहिष्णु थे वरन् उसके लिए सक्रिय आदर का भाव भी रखते थे। नरेन्द्रदेवजी कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में सन् 1907 में पहुंच गए। उग्र दल के कांग्रेसी नेता, स्वदेशी चीजों का ही इस्तेमाल, विदेशी का बहिष्कार, जन जागृति का कार्य-क्रम और जन संगठनों को मजबूत बनाकर पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है—घोषित कर चुके थे। इनके विचारो को उत्कर्ष देने वाले पत्र भी निकलने लगे थे। जिनमे कलकत्ता से निकलने वाले दैनिक 'वंदेमातरम्' का नाम सदा ही आदर से लिया जाएगा। नरेन्द्रदेवजी ने भी कलकत्ता से लौटकर स्वदेशी का संकल्प लिया, जिसे आजीवन निभाया भी। कलकत्ता से लौटने पर नरेन्द्र-देवजी को तत्काल ही पुन: तिलक के भाषण सुनने का अवसर इलाहाबाद मे ही मिल गया। तिलक भी कलकत्ता से लौटते समय इलाहाबाद आए थे। पर गरम दल के नेताओं का इलाहाबाद आने का क्रम इसी से नही टूटा। उसके बाद विपिन चन्द्र पाल भी आए और लाला लाजपत राय भी। इनके भाषणों ने नरेन्द्रदेवजी के मन में उमड़ते हुए विचारो को मार्ग दिखाया और उन्हे तर्कानुगति से पुष्ट भी किया। बड़े-बडे युवा नेताओ के जोश भरे भाषण ही युवकों को आकृष्ट नही करते थे, बल्कि उन दिनों उनके विचारों को बल देने वाला प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध हो रहा था; कुछ तो अंग्रेजी से अनूदित होकर और कुछ स्वतंत्र लेखन के रूप मे। अनूदित पुस्तको मे एडविन आर्नल्ड की पुस्तक 'लाइट आफ एशिया' का नाम लिया जाता था और स्वतन्त्र रचनाएं अधिकतर बंगला और मराठी मे ही हो रही थी। यद्यपि हिन्दी इन दोनों भाषाओ के साथ हम कदम होकर चल रही थी तथापि बंगला भाषा में लिखे गए बंकिम चन्द्र चटर्जी के उपन्यासो का महत्व सर्वोपरि माना जाता था। नरेन्द्रदेवजी ने भी रमेशचन्द्र दत्त और बंकिम बाबू के उपन्यास बंगला भाषा से ही पढे। लाला हरदयाल विलायत से पढ़ाई छोड़कर लौटे हुए उग्र-वादी नेता थे और परिस्थितियों और परिवेश ने उन्हे वकील बनाकर ही छोडा तथा फैजाबाद मे वकालत प्रारम्भ करने के कुछ ही समय बाद वे अपनी प्रतिभा

से उस क्षेत्र मे सम्मान भी प्राप्त करने लगे। नरेन्द्रदेवजी का पारमार्थिक पक्ष तो बचपन से ही प्रबलतर होता चला आ रहा था। इसमें उनके श्रोता, गुरुजनो और स्वामी रामतीर्थ आदि जैसे लोगों का भी बड़ा योगदान था। कुल मिलाकर इनमें प्रतिभा का वह रूप मुखर हुआ जो प्रतिपक्ष को परास्त करने पर उनमे हीन भावना का उदय करने की जगह उनमे अपने प्रति आदर और सद्भाव का उदय कराता था। वकालत के पेशे मे तो रोज ही किसी-न-किसी प्रतिद्वन्द्वी का सामना होता था लेकिन इनकी योग्यता और सम्भ्रात आचरण ने इनके वरिष्ठ और वयस्क हम पेशेवर व्यक्तियों की सद्भावना को इनकी ओर अबाध गति से मोड़ दिया और यह उन सबके आशीर्वाद-भाजन बन गए। कहा जाता है कि युवा वकील नरेन्द्रदेव की प्रतिभा ने एक आत्मकेन्द्रित पूर्वाग्रही अंग्रेज जज को भी अपनी लीक छोड़ने पर विवश कर दिया। उस जज की यह आदत थी कि अपने सामने आए विवाद के कागजो और साक्ष्य को पढ़कर वह उस मुकदमे का फैसला पक्ष और विपक्ष की बहस सुनने के पूर्व ही लिख लिया करता था। बहस सुनने के बाद कभी-कभी अगर आवश्यक हुआ तो कुछ संशोधन कर देता था अथवा अपना पहले से ही लिखा फैसला सुना देता था। एक बार जब नरेन्द्रदेवजी को उसके कार्यालय मे उपस्थित होना पड़ा तो इनके पिता ने जाकर जज से कहा कि उनका लडका आज उनकी अदालत मे उपस्थित होने वाला है। उनकी इतनी ही प्रार्थना है कि उसकी बहस भी सुन ली जाए। उसके बाद जो भी फैसला आप सुनाना चाहे, सुना दे। जब नरेन्द्रदेव ने अपनी बहस प्रारम्भ की तो वह जज इतना प्रभावित हो गया कि उसने अपना पहले से लिखा पूरा फैसला फाड डाला और फिर नए सिरे से उसने फैसला लिखा। वकालत से प्रसिद्धि तो मिलने ही लगी, उससे अच्छी आय भी होने लगी। अत वह अपनी आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग समाज सेवा मे खर्च करने लगे। यह सब होते हुए भी विद्यार्थी जीवन मे प्रस्फुटित अपने क्रांतिकारी विचारो को वे चिन्तन और अध्ययन से पुष्ट करते रहे। उसी जमाने में उन्होंने मार्क्सवाद और रूसी क्रांति के साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। सार्वजनिक जीवन का अध्याय भी यहीं से शुरू हुआ जब वह सर्वसम्मति से फैजाबाद नगरपालिका के सदस्य चुने गए।

यहां तक भी उनके राजनैतिक जीवन का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि पत्र-पत्रिकाओं मे उनके कुछ लेखादि प्रकाशित होने लगे थे और

क्रांतिकारी विचारधारा के साहित्य का अच्छा अध्ययन और क्रांतिकारी युवकों की सहायता और सत्संग का अवसर भी मिल चुका था, फिर भी राजनीति से अभी वह बाहर ही रहे। इसका श्रीगणेश तो तबसे माना जाना चाहिए, जबसे उन्होंने श्रीमती ऐनी बेसेंट के होमरूल लीग की एक शाखा फैजाबाद में खोली और उसके मंत्री के रूप में स्वयं काम करने लगे। यहीं से उनका सम्पर्क जवाहरलालजी से भी हुआ क्योंकि वह भी प्रांतीय स्तर पर होमरूल लीग के मंत्री थे। दोनों ही युवा थे और यह संयोग ही था कि दोनों का जन्म 1889 में ही हुआ था और नरेन्द्रदेवजी जवाहरलाल से चौदह दिन ही बड़े थे। दोनों युवा वकील थे। दोनों की मैत्री हुई और कालांतर में जीवनपर्यन्त बनी रही। उनके राजनीतिक जीवन की असली नींव तो काशी विद्यापीठ में पड़ी। वहां जाने के निमित्त भी जवाहरलालजी ही थे। किसान आंदोलन के सिलसिले में एक बार जवाहरलालजी फैजाबाद आए और उन्होंने ही बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा स्थापित होने वाले काशी विद्यापीठ में काम करने का शिवप्रसादजी का निमंत्रण भी दिया। कुछ संकोच और कुछ विचार के बाद नरेन्द्रदेवजी राजी हो गए थे। यही वह संस्था है जिसे उनके बौद्धिक वर्चस्व को उजागर करने का, उनके मूलतः आचार्यत्व के रूप को प्रकट करने का, स्वतंत्रता संग्राम-सेनानी और अप्रतिम स्वतंत्र चेता, समाजवादी विचारक और बौद्ध दार्शनिक बनाने का श्रेय मिलना चाहिए। यहीं इनका गांधीजी से प्रथम सान्निध्य हुआ और यहीं से वह उनके परम आदरास्पद हुए। इसका एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा जो इस बात का सबूत है कि गांधीजी अपने जीवन के अंतिम दिनों तक उन्हें कांग्रेस और देश के लिए हर तरह से सर्वश्रेष्ठ और योग्य मानते रहे। सन् 1947 में गांधीजी ने सलाह दी कि नरेन्द्रदेवजी को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाए। उनकी सलाह मानकर उनका नाम पेश भी किया गया। सभी ने उनकी विद्वत्ता, उदात्त चरित्र और देश सेवा को देखते हुए उन्हें सर्वथा योग्य माना। पर सरदार पटेल प्रभृति कुछ नेता इसके विरुद्ध थे। उनकी ओर से राजेन्द्र बाबू का नाम प्रस्तावित हुआ। तब गांधीजी ने पं० गोविन्द बल्लभ पंत की मार्फत उनके पास यह संदेश भेजा कि वह इस पद के लिए न खड़े हों। 'लेकिन यह संदेश उन्हें नहीं पहुंचाया गया और जब बाद में उन्हें स्वयं गांधीजी से इसका पता चला तब उन्हें इस बात का क्षोभ था कि गांधीजी की राय न होते हुए भी उन्हें अध्यक्ष का भार ग्रहण करना पड़ा।" (223 मुकुट बिहारीलाल)

सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में रुचि लेते रहने और फैजाबाद मे सामाजिक कार्य करने तथा वहां से कांग्रेस के अधिवेशनों में जाते रहने के बावजूद, उन्होंने अपने को परोक्ष ही रखा था। पर काशी विद्यापीठ मे आने के बाद उन्हे प्रातीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य के रूप में कार्य करने और अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिलने लगा। कांग्रेस के विधान मे काशी विद्यापीठ से प्रातीय कमेटी में अपना प्रतिनिधि भेजने का प्रावधान था। विद्यापीठ नरेन्द्रदेवजी को ही अपना प्रतिनिधि बनाकर कई वर्षों तक भेजता रहा। नरेन्द्रदेवजी कांग्रेस के विधिवत सदस्य ही नही थे बल्कि उसके आदर्शों और उद्देश्यो से भी बहुत हद तक सहमत थे। जहां तक उनसे बन पडता, अपने स्वतत्र विचारो को वह प्रकट करते या बिना बहस में पड़े अपने वोट से ही चुपचाप अपनी सहमति या असहमति प्रकट कर देते। अपने स्वतत्र विचारों को न तो वह किसी के ऊपर जबरदस्ती लादने के पक्ष में थे और न ही स्वीकार कराने के पक्ष में। पर अनुशासनप्रिय होने के कारण जहां तक बन पडा, सदा ही सगठन के निर्णय को माना और उसके अनुसार आचरण भी किया। जब नही सम्भव हुआ तब अलग तो हो गए पर संगठन के भीतर रहकर अनुशासन-हीनता को कभी नही उभरने दिया। कहा जा सकता है कि उन्होंने कांग्रेस के भीतर रहकर भी कांग्रेस समाजवादी दल का नेतृत्व किया और इस प्रकार मूल धारा से लोगों के हटने या हटाए जाने में उनका सक्रिय हाथ रहा। पर ऐसा नही था। कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना और उसके कांग्रेस से अलग होने का एक रोचक इतिहास है, जो बताता है कि विचार-स्वातंत्र्य की रक्षा, उसका पोषण और उसका प्रचार देश और समाज के कल्याण को केन्द्र में रखकर किस प्रकार अनुशासनबद्ध रूप से किया जा सकता है, यह एक स्वतंत्र विषय है। पर यह सही है कि इस उप सगठन के नेतृत्व के ही कारण उन्हें देश में भी और देश के बाहर भी एक स्वतंत्र चेता समाजवादी के रूप में जाना जा सका। उन्होने जनतंत्रात्मक समाज की जो धारा इस देश मे चलाई, उसके वह उन्नायक थे।

समाजवाद अर्थात कांग्रेस समाजवादी पार्टी का जन्म तो 1934 में हुआ और कांग्रेस से पूर्ण विच्छेद मार्च 1948 मे हुआ, लेकिन इन चौदह वर्षों के बीच और उससे पहले, उस दिन से जब से वह कांग्रेस मे सक्रिय सदस्य के रूप में आए, राजनीति मे अनुशासन, नैतिकता और साधन की शुद्धता को सदा

अपनाए रखा। राजनीति मे गाधीजी भी यही चाहते थे। उन्होने अपने नेतृत्व काल मे काग्रेस को और उसके अधिकाश सदस्यो को जब तक जीवित रहे, एक आध्यात्मिक धरातल पर उठा रखा था। गाधीजी के राजनीतिक उद्देश्यो और आदर्शों से नरेन्द्रदेवजी कितने अभिभूत थे, यह उनके द्वारा लिखे गए और बोले गए भाषणो मे समय-समय पर बराबर झलकता रहा। उत्तर प्रदेश (उस समय संयुक्त प्रात) की असेम्बली मे गाधीजी के निधन पर जो वक्तव्य उन्होने दिया, उसके कुछ अशो से गाधीजी के प्रति उनके मन मे जो अगाध श्रद्धा और निष्ठा थी, केवल उसी का पता नही चलता, वरन् उस समय के उद्‌गारो में उनके आदर्शों की भी झांकी मिलती है। वह कहते है, "महात्मा गांधी ने भारतवर्ष की प्राचीन सस्कृति को, उसकी पुरातन शिक्षा को परिष्कृत कर युग धर्म के अनुरूप उसको नवीन रूप प्रदान कर, उसमें वर्तमान युग के नवीन सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य का पुट देकर एक अद्भुत एवं अनन्यतम सामंजस्य स्थापित किया। उन्होने इस नवयुग की अभिलाषाओ, उसके उद्देश्यों का सच्चा प्रतिनिधित्व किया। इसीलिए वह भारतवर्ष के ही महापुरुष नहीं थे अपितु सारे ससार के महापुरुष थे।" उनके विचार से गाधीजी की राष्ट्रीयता उदारता से पूर्ण थी, ओत-प्रोत थी, उनका हृदय विशाल था और उन्होने सामान्य जीवन मे जनता के स्तर को ऊंचा किया. जनता में स्वाभिमान को उत्पन्न किया। यह जो सामान्य जनता तक के स्तर को ऊंचा करने की बात नरेन्द्रदेवजी ने कही, वह तो उसी प्रक्रिया का प्रसार था जो संगठन की सीमाओं से बढकर जन-जन को समेट रहा था। यह कार्य गांधीजी ने जिस नैतिक बल के आधार पर किया, उसी के आचार्यजी भी पक्षधर थे, और सदा उसका अनुपालन करते रहे। राजनीति मे वह कुछ थोडे से इने-गिने व्यक्तियों मे से थे जिनका 'स्व' नही था केवल 'पर' था, देश था, समाज था, सारी मानवता थी। इतने विशाल चित्रफलक पर काम करने वाला व्यक्ति कितना विराट रहा होगा, इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है।

गांधीजी के नेतृत्व में काम करने वाले लोग समाज में असहयोगी के नाम से जाने जाते थे। गाधीजी द्वारा समय-समय पर चलाए गए आदोलन साधारण रूप मे असहयोग आदोलन के रूप में जाने जाते थे, क्योंकि उनका मूल स्वर सरकारी कार्यों से असहयोग कर ब्रिटिश शासन का विरोध करना था।

अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ जनमत बन रहा था पर उसे संगठित रूप देने का जो तरीका गांधीजी ने अपनाया, वह अनूठा था। उस तरीके से निशाना कहीं लगाया जाता था, घाव किसी और जगह होता था। देखते-देखते इसकी सार्थकता स्वयंसिद्ध-सी प्रतीत होने लगी। इग्लैंड में अंग्रेजी मिलों की हालत तो खराब होने ही लगी, इंग्लैंड में बैठे भारत के शासन की बागडोर हिलाने वालों का आसन भी हिलने लगा। भारत स्थित अंग्रेज वायसराय और उनके अधीन काम करने वाले उच्चस्थ शासनाधिकारी छिन्न मस्तक तो नहीं हो रहे थे, पर उनके दिलोदिमाग में हतबुद्धिताजन्य बेचैनी उनको बेरहम बना रही थी। उनकी बेरहमी से किए हुए काम जनता में क्षोभ उत्पन्न कर रहे थे। गांधीजी उस क्षोभ को संभाल कर गागर में भरते जाते और वह क्षोभ अब नगर-डगर सब जगह फूटने लगा। अंग्रेजी हुकूमत को इस तरीके से निपटना नहीं मालूम था। शुरू के संदेहों के बाद तो देश के सभी नेता, जो सक्रियता में विश्वास रखते थे, गांधीजी के साथ ही चले। हर आंदोलन में जो असहयोग के ही आधार पर चलता था, वे कूद पड़ते और हंसते-हंसते प्रहार और यातनाएं सहने लगे। नरेन्द्रदेवजी राजनीति में रहते हुए कांग्रेस के सदस्य के रूप में हर असहयोग आंदोलन में गांधीजी के साथ थे। यहां उन आंदोलनों का इतिहास देना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि फिर उनके बुनियादी विश्लेषण की भी आवश्यकता पड़ेगी। यहां तो यह जानना ही काफी होगा कि नरेन्द्रदेवजी सक्रिय राजनीति में उग्रवादी विचारधारा के समाजवादी नेता थे, जो गांधीजी के नैतिक मूल्यों में विश्वास रखते थे और उनके प्रचार-प्रसार के लिए सदा कटिबद्ध थे।

कांग्रेस से समाजवादी पार्टी का जन्म 1934 में हुआ और उसके जन्म के इतिहास पर यत्किंचित प्रकाश अन्यत्र भी डाला जाएगा, पर जहां तक नरेन्द्रदेवजी का, तथा उनके कुछ अन्य सहयोगियों का प्रश्न है, उनका झुकाव 1926 से ही हो चुका था। उन्हीं दिनों की सम्पूर्णानंदजी द्वारा लिखी 'समाजवाद की रूपरेखा' नामक एक पुस्तक इस सिलसिले में द्रष्टव्य है। नरेन्द्रदेवजी और सम्पूर्णानन्दजी ने मिलकर 1926 में संयुक्त प्रांत की कांग्रेस कमेटी के सदस्य के रूप में काम करते हुए प्रांत के किसानों की समस्या के समाधान के लिए एक छोटा-सा कार्यक्रम भी तैयार किया था, जिसका मूल रूप समाजवादी था। राजनीति में प्रवेश करने के बाद से ही नरेन्द्रदेव का

झुकाव समाजवाद और समाजवादी विचारधाराओं के अध्ययन और विश्लेषण में लगा हुआ था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी के जन्म के बाद से वह उस मंच से अपने विचारों को सदा ही सार्थकता से प्रकट करते रहे। गांधीजी, जिन्होंने दरिद्रनारायण की ही सेवा का व्रत लिया था, इन विचारों का विरोध तो न कर रहे थे और न उनके पास विरोध के लिए कोई सैद्धांतिक आधार था, पर उनका हाथ देश की जनता की नब्ज को जिस तरह पढ़ रहा था और उन्हें देश की समस्याओं का जो स्वरूप जिस स्पष्टता से दिखाई पड़ रहा था, वैसा अन्यों के लिए कर पाना कठिन था। अतः इन दो पक्षों में सर्वथा मतैक्य तो सम्भव नहीं था। गांधीजी जल्दबाजी में कोई काम नहीं करते थे। उन्हें समाजवादी कार्यक्रम और उससे अधिक उसके समर्थन और प्रचार में इस्तेमाल की जाने वाली भाषा जल्दबाजी में उठाए गए कदम की आवाज दे रहे थे। वह समय के साथ चलना चाहते थे और जब क्षमता से आगे जाते तो इतना आगे चले जाते कि बीच का व्यवधान एक दुस्वप्न-सा बनकर रह जाता। जनता आंखें मलती हुई उनके साथ हो लेती। गांधीजी ने अपनी स्थिति को समझने और उसे दूसरों को स्पष्ट करने के लिए साबरमती आश्रम में कांग्रेस समाजवादी पार्टी के कुछ प्रमुख नेताओं के साथ एक संगोष्ठी में विचार-विनिमय भी किया। इसमें उपस्थित समाजवादियों में नरेन्द्रदेवजी भी थे।

जब 1936 में जवाहरलालजी लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने अपनी कार्यकारिणी में नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन को भी शामिल किया और अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रायः समाजवादी भाषा का ही व्यवहार करते हुए कहा कि कांग्रेस समितियों में मजदूरों और किसानों का भी प्रतिनिधित्व होना चाहिए, पर गाड़ी इसके आगे नहीं बढ़ी। आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाशजी जैसे नेताओं का समय-समय पर कांग्रेस कार्यकारिणी में आते रहना इस बात का द्योतक नहीं माना जाना चाहिए कि कांग्रेस और उसके अध्यक्ष समाजवादी कार्यक्रम को अपना रहे थे। वस्तुतः संवैधानिक रूप से ये सभी समाजवादी कांग्रेस के ही मूल सदस्य होते थे क्योंकि कांग्रेस समाजवादी पार्टी का सदस्य वही हो सकता था जो कांग्रेस का सदस्य हो। वस्तुतः यह कोई स्वतंत्र पार्टी नहीं थी। यही कारण था कि जब इसी अवधि में अर्थात जवाहरलालजी की अध्यक्षता में ही इन लोगों के कार्यकारिणी में आ जाने पर तथा कुछ अन्य बातों के चलते सरदार पटेल,

राजेन्द्र प्रसाद और राजाजी प्रभृति नेताओं ने कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया तो समाजवादी युवा नेताओं के सुझाव के अनुसार बजाय कांग्रेस में समाजवादी विचारधारा के प्रभुत्व को अपनाने के इस विवाद मे जवाहरलाल-जी ने इनका साथ छोड दिया और कांग्रेस पुनः अपने कार्यक्रम पर ही चलती रही। पर अभी समाजवादी गुट को भी कांग्रेस छोड़ने का समय नही आया था। ऐसा नही था कि वे लोग कांग्रेस के बाहर अपनी स्वतंत्र सत्ता नही देख रहे थे। सच यही था कि ये सभी लोग वैचारिक दृष्टि से जो भी राजनीतिक विचार रखते रहे हों, लेकिन क्रियाशीलता के लिए, आदर्श चरित्रवान नेता के लिए, युद्ध नीतियों के निर्धारण के लिए गांधीजी को ही अपना नेता मानते रहे।

उनका मित्र-मंडल

नरेन्द्रदेवजी अजातशत्रु थे। वह किसी के अमित्र नही थे। यह उनके व्यक्तित्व की एक ऐसी विशेषता थी, जिस पर जो कुछ भी लिखा जाए, पूरा नही पड सकता। जिन्होने उन्हे जाना, उनकी यह अनुभूति अनिवर्चनीय ही रह जाएगी। उस व्यक्ति के बारे में कोई क्या और कितना कह सकता है जो सकल समाज का था और मानव जगत के प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसके मन में घर कर रही थी। जिसने मानव वेदना को प्रसव पीड़ा के समान अनुभव किया, जिसे उग्र राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, और जातिवाद छू तक नहीं सका था, जिसका मन और मस्तिष्क कभी एकदेशीय नही रहा, जिसने उन मानवीय मूल्यो को, जो समाज के लिए कल्याणकारी होते है, शुष्क विज्ञान की निष्पत्तियों से भी ऊचा माना तथा जिसने चराचर जगत को एक ही शक्ति से व्याप्त माना, वह शत्रु और मित्र की परिधि में कैसे घिरा रह सकता था। फिर भी सांसारिक दृष्टि से, उस सीमित समाज की दृष्टि से, जिसमे वह जन्मे और अपनी जीवन-लीला समाप्त की, उनके कुछ करीबी मित्रो की चर्चा अप्रासगिक नही होगी।

विद्यार्थी जीवन के जिन सहपाठी मित्रो के नाम उल्लेखनीय हैं, उनमें पं० गोपीनाथ, श्री शिवप्रसाद गुप्त, श्री हीरालाल खन्ना, श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल और श्री हरिरामचद्र दिवेकर का नाम उल्लेखनीय हैं। नरेन्द्रदेवजी ने अपने एक संस्मरण मे हीरालाल खन्ना से मैत्री होने का कारण लिखा है कि उन दोनो मे विचारो का बहुत साम्य था। हीरालालजी का जन्म एक गरीब परिवार में हुआ था। बचपन मे ही उनके पिता का देहात हो गया और उन्हे उसी अवस्था से कठिनाइयो का सामना करना पड़ा था। पर खन्नाजी बचपन से ही स्वाभिमानी और साहसी बालक के रूप में बड़े हुए और अपने परिश्रम के बल पर आगे बढते गए। म्योर सेंट्रल कालेज में पहुचकर इनका

साथ नरेन्द्रदेवजी से हुआ और एक दूसरे के विद्याव्यसन ने उनको परस्पर निकट ला दिया जो आगे चलकर प्रगाढ मैत्री में बदल गया। हिन्दी के प्रति दोनों में ही समान निष्ठा थी और दोनों ही स्वतत्रता के पुजारी अत तक बने रहे। खन्नाजी कानपुर बी० एन० एस० डी० कालेज के प्रिंसिपल पद पर पहुचे। उनकी धवल मूछे और सफेद पगडी उनकी शरीर-शोभा और उनके व्यक्तित्व की विशेषताएं थी। खरा और स्पष्ट बोलना उनकी आदत थी।

शिवप्रसादजी से भी नरेन्द्रदेवजी की मैत्री म्योर सेंट्रल कालेज की ही मैत्री थी जो आगे चलकर देश सेवा के काम में और प्रगाढ़ हुई। सन् 1913-14 मे वह विश्व भ्रमण के लिए निकल पड़े। उनकी एक विदेश यात्रा मे सम्पूर्णानंदजी के मझले भाई अन्नपूर्णानंदजी भी थे। ईजिप्ट मे पासपोर्ट अधिकारियों ने उनका नाम 'चैक' करते समय उसका उच्चारण शिव प्रसाद जुप्ता किया। उनकी वर्णमाला के उच्चारण मे 'ग' का उच्चारण 'ज' ही होता है। शिवप्रसादजी ने उसे सही करते हुए गुप्ता उच्चारित किया। अधिकारियो ने अनुमोदन के ही स्वर में पुनः जुप्ता दोहराया। शिवप्रसादजी अपने नाम का अशुद्ध उच्चारण सुनकर नाराज हो गए और बार-बार जुप्ता कहे जाने पर खिन्न भी। इस घटना का उल्लेख अप्रासंगिक लग सकता है पर इसका जिक्र शिवप्रसादजी के व्यक्तित्व का एक अनिवार्य अग है। वह हर काम को मर्यादापूर्वक करना पसंद करते थे और दूसरों की मर्यादा की रक्षा करना जानते थे। भाषा हो, भाव हो, आचार या व्यवहार हो, सब में एक मानक स्थिर करना या स्थिर मानक की रक्षा करना उनका स्वभाव था। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि उनकी जीवनी किसी ने नहीं लिखी, अन्यथा वह न केवल शिक्षाप्रद होती, वरन् रोचक भी और काशी के राजनीतिक इतिहास पर एक बड़ी चमकदार रोशनी का काम करती। शिवप्रसादजी ने विद्यापीठ की स्थापना के साथ नरेन्द्रदेवजी का सहयोग जोडकर विद्यापीठ को सचमुच का विद्यापीठ बनाया था, जिसकी महिमा बहुत दिनो तक बनी रही और इस सस्था ने कई सुप्रसिद्ध सर्वस्वत्यागी महापुरुषों को उजागर किया। नरेन्द्रदेवजी और शिवप्रसादजी मे अक्सर हंसी-मजाक भी होता था और इनकी विनोदप्रियता का जिक्र इनकी मित्र-मडली अक्सर करती। यो शिवप्रसादजी बहुत ही गुरु गम्भीर व्यक्ति लगते थे, पर प० मोतीलालजी उनके आने पर बैठने के लिए जब यह कहते सुने जाते कि "मिस्टर गुप्ता प्लीज टेक ए फ्यू

बेयर्स" तब उनके समवयस्को को भी हसी दबाना कठिन हो जाता। वह शरीर से स्थूल थे। नरेन्द्रदेवजी का एक प्रसंग मुकुट बिहारीलालजी ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है। काशी विद्यापीठ के वार्षिकोत्सव पर जब वहां के छात्रों ने एक नाटक का आयोजन किया तो उस अवसर पर शिवप्रसादजी चीनी वेश-भूषा में मंच पर पधारे। देखकर उपस्थित लोगो ने उन्हे मोटर कहा। दुबले-पतले नरेन्द्रदेवजी के पधारने पर उन्हे टमटम कहा गया। नरेन्द्रदेवजी ने झट से कहा, "टमटम को कौन पूछ है मोटर के सामने। मिर्जा को कौन पूछे है मिस्टर के सामने।"

गोपीनाथजी से नरेन्द्रदेवजी की मित्रता दो भारी पत्थरों की मित्रता थी। यद्यपि विद्वत्ता मे दोनो एक दूसरे पर भारी थे तथापि दोनो मे टकराहट के स्थान पर निर्मल पानी की धारा के समान सहज बहाव और परस्पर का आदर और आकर्षण था। गोपीनाथजी ने अपनी मित्रता के बारे मे जो स्वय कहा है उसी को उद्धृत करना अधिक समीचीन होगा। वह लिखते हैं कि "नरेन्द्रदेवजी मेरे सहपाठी थे, यह तो सभी जानते है। मेरे साथ वह बनारस क्वीस कालेज मे एम० ए० में पढ़ते थे। हम लोगों ने 1913 मे एक साथ एम० ए० पास किया, परतु इस विषय में जो कुछ कहना है उसे मैं आगे कहूगा। वास्तव मे नरेन्द्रदेव से मेरा प्रथम परिचय मार्च 1911 मे हुआ था। इस परिचय का एक संक्षिप्त इतिहास है। मई 1910 मे मैं राजस्थान के जयपुर महाराजा कालेज से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर बनारस क्वीस कालेज के एम० ए० के प्रथम वर्ष मे प्रविष्ट हुआ। मेरी रुचि दर्शन, सस्कृत और भारत के प्राचीन इतिहास मे अधिक थी। उस समय क्वीस कालेज के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध विद्वान डा० वेनिस थे। मैंने डा० वेनिस के निर्देशानुसार संस्कृत एम० ए० की पंचम वर्षीय श्रेणी मे षष्ठ वर्ष के लिए डी ग्रुप लेने का सकल्प किया। मार्च 1911 मे पंचम वर्ष की परीक्षा देने के लिए मैं इलाहबाद गया। यह प्राय: 22 मार्च की बात है। वहां जाकर मैं पहले बिहारीलाल की धर्मशाला में ठहरा और परीक्षोपरांत रहने के लिए अच्छे स्थान की खोज करने लगा। इलाहाबाद मे उस समय गंगाप्रसाद गुप्त नाम के मेरे एक पुराने मित्र रहते थे। वह जयपुर निवासी थे और इसी सूत्र से मेरा उनका पुराना परिचय था। मैं जिस स्थान पर ठहरा था वहीं से किसी आदमी के मार्फत मैंने उनको खबर भेजी। उन्होने मेरे रहने का प्रबध अपने घनिष्ठ बंधु नरेन्द्रदेव के स्थान पर किया

था। मैं धर्मशाला से गंगा प्रसादजी के यहां पहुंचा (वह ला होस्टल में रहते थे) और वहां से नरेन्द्रदेवजी के स्थान पर गया और उनके साथ रहने लगा। इसी सूत्र से नरेन्द्रदेवजी के साथ मेरा परिचय हुआ। केवल परिचय ही नहीं हुआ, इसी के साथ और भी कुछ उनसे मिला, अकृत्रिम सौहार्द जो मृत्यु पर्यन्त विद्यमान रहा। मै रात में उन्हीं के साथ रहता था। गंगा प्रसादजी बीच-बीच में आकर पता लगा जाते थे कि किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं है। वस्तुतः असुविधा की कोई बात ही नही थी, क्योंकि नरेन्द्रदेवजी प्रत्येक विषय में मेरे लिए चिंतित रहते थे और जिस समय जो आवश्यकता होती थी, उसका प्रबंध कर देते थे। उन दिनों मुझ पर कभी-कभी मलेरिया बुखार का आक्रमण होता था। जब मैं इलाहाबाद में था तो उस समय भी मुझ पर उसका आक्रमण हुआ था। उस समय नरेन्द्रदेवजी के स्नेह, सेवा-परायणता, उदार चित्त आदि गुणो का मुझे परिचय मिला था। मुझसे उनका पूर्व परिचय नही था। एक मित्र के परिचय सूत्र से मैं उनसे परिचित हुआ था, परंतु उनके हृदय में जो स्वाभाविक सेवाशक्ति का अधिष्ठान था, क्षेत्र पाकर वह कार्योन्मुख हुआ और उसने मुझे मुग्ध कर दिया। हम दोनों भारतीय संस्कृति के अनुरागी थे। इस सूत्र को लेकर भी हम लोगों के अंदर सूक्ष्म भावमय निकट सम्पर्क स्थापित हुआ था, जिसका क्रमिक विकास साहित्य प्रवृत्तियो के माध्यम से प्रकट हुआ।"

"इधर नरेन्द्रदेवजी इलाहाबाद से बी० ए० पास करके एम० ए० करने के लिए क्वीस कालेज बनारस मे पंचम वर्ष में प्रविष्ट हुए थे। 25 जनवरी को नरेन्द्रदेव मुझसे मिलने के लिए मेरे घर पर आए। मैं उस समय 53- देवनाथ पुरा, बंगाली टोला, काशी में रहता था। नरेन्द्रदेव बंगला पुस्तके पढकर अच्छी तरह से उनका निगूढ़, अभिप्राय भी समझ लेते थे। मैंने उनको महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का लिखा हुआ 'बाल्मीकीर जय' नामक ग्रंथ पढने के लिए दिया। इस ग्रंथ का नाम बहुत दिनो से उनको मालूम था और पढने की इच्छा भी थी।"

यों तो पंडित गोपीनाथजी ने अपनी मैत्री की बातें लिखते हुए जगह-जगह नरेन्द्रदेवजी के विद्यानुराग, मेधा और गम्भीर चिन्तनशक्ति का परिचय देने वाली बहुत-सी बातो का जिक्र किया है, पर उन्ही दिनों नरेन्द्रदेवजी के और शचीन्द्रनाथ सान्याल के घनिष्ठ मित्र होने का भी उल्लेख किया है।

इसी संदर्भ मे आचार्यजी की मित्रता ग्वालियर के श्री हरीराम दिवेकर से भी थी, उसका पता भी चलता है। दिवेकरजी के सम्बध में आगे लिखा जाएगा। आचार्यजी की मित्रता श्री जनार्दन भट्ट से भी थी, इसका उल्लेख भी गोपीनाथजी ने अपने संस्मरण में किया है। आचार्यजी के राजनीतिक जीवन के घटाटोप में उनके कई साहित्य प्रेमी और दूसरे क्षेत्रों में काम करने वाले उदारचरितों का पता नहीं चलता। श्री जनार्दन भट्ट, महामहोपाध्याय पंडित राम यदिश्वर तर्करत्न महाशय के पुत्र थे। इन जनार्दन भट्ट का जिक्र एक और दिलचस्प रिपोर्ट मे भी मिलता है। बनारस 'कांसपिरेसी केस' के फैसले के मुख्य अभियुक्त शचीन्द्रनाथ सान्याल थे। उनके अन्य साथियो और परिचितों के संदर्भ मे इन्ही जनार्दन भट्ट का भी जिक्र आया है। श्री जनार्दन भट्ट का जिक्र आने पर यहां यह स्मरण हो जाता है कि आचार्यजी की मित्र ता इलाहाबाद में पढ़ते समय हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र श्री जनार्दन भट्ट से भी हुई थी। इन दोनो का सहयोग और पत्र-व्यवहार भी समय-समय होता रहा था और इन जनार्दन भट्टजी के लिए आचार्य के मन में सदा आदर का भाव बना रहा। श्री जनार्दन भट्टजी से बात करते समय प्रसंगवश यह भी पता चला कि जवाहरलालजी के आग्रह पर आचार्यजी ने ही उनके बड़े दौहित्र का नाम राजीव रखा था। इसी प्रकार आचार्यजी के एक मित्र पं० जगधर गुलेरी का भी पता चलता है। जगधरजी पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के छोटे भाई थे।

आचार्यजी स्वयं तो षड्यंत्रकारी नहीं बन सके क्योंकि प्रारम्भ से ही उनकी विचारधारा अहिंसात्मक बनने लगी थी, पर वह आजादी की कल्पना न तो वैधानिक तरीके से प्राप्त होने मे कर पाते थे और न ही प्रस्तावों और याचनाओ के माध्यम से। उग्रवादी विचारधारा उन्हे आकृष्ट कर रही थी और अपने विद्यार्थी जीवन से ही वह उग्रवादी राजनीतिज्ञों की ओर आकृष्ट हो चले थे। कुछ इस कारण और कुछ भीतर की तड़पन के कारण भी षड्यंत्रो मे सक्रिय न होकर भी उन्होने षड्यंत्रकारियों की सहायता की थी। श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से आचार्यजी की घनिष्ठता विद्यार्थी जीवन मे ही हो गई थी। इनके पिता श्री हरिकेशव सान्याल काशी के प्रसिद्ध अध्यापक थे। हरिकेशवजी ने लेखक के पिताश्री को भी पढ़ाया था और अवकाश प्राप्त करने के बाद शतायु होकर इहलीला समाप्त की। कुछ संयोग की ही बात थी कि इनके

सुपुत्र ने लेखक को उसी क्वीन्स कालेज मे पढाया था। शचीन्द्रनाथ सान्याल बाद को रासबिहारी बोस के साथ बनारस षड्‌यंत्र केस में उजागर हुए। वह आजादी के बाद तक जीवित रहे और प्रायः साधु रूप में ही रहा करते थे। साधु वेश मे एक सफेद खादी की धोती और उपरना ही इनका वस्त्र था। पर धोती के फेंट में एक छोटी-सी रिवाल्वर हमेशा छिपी रहती थी। पूछने पर हंसकर कहते कि यह उन दिनो की याद-मात्र है।

श्री हरिराम चन्द्र दिवेकर भी डॉ० वेनिस के विद्यार्थी थे और एपीग्राफी और पेलियोग्राफी इनका भी विषय था। अपने और नरेन्द्रदेवजी के प्रथम साक्षात्कार और परिचय का उल्लेख इन्होंने स्वय किया है। वह लिखते है, "अगस्त का महीना था। कालेज खुल चुका था। मैं सुबह ही कालेज में पहुचकर प्रिंसिपल साहब के बंगले पर पहुंचा। देखा कि एक शिलालेख को एक मेज पर फैलाकर दो विद्यार्थी और स्वयं श्री वेनिस साहब उसे पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे। इन दो विद्यार्थियों में एक इकहरा बदन, गेहुंआ रग, धोती, कोट और सिर पर टोपी पहने हुए तथा दूसरे बंगाली वेशभूषा में थे। दोनो से मेरी दृष्टि मिली। मैंने वेनिस साहब को 'सुप्रभात' किया और अपने पत्र-व्यवहार की याद दिलाई। श्री वेनिस ने रूखे और उच्च स्वर से दोपहर में कालेज-कार्यालय में आने के लिए कहा। पर मेरे सहपाठी ने मुझे वहीं जम जाने का इशारा किया। शायद प्रिंसिपल साहब ने मेरे पत्र का जिक्र किया हो और वह अपने तीसरे सहपाठी की बाट ही जोहते हों। मुझे इशारा दे वहा जमाने वाले यही सज्जन थे जिनका नाम मुझे पीछे से मालूम हुआ—फैजाबाद के श्री नरेन्द्रदेव। आप से इशारा पाते ही मैंने नम्रता, पर दृढ़ता-पूर्वक श्री वेनिस से कहा, मुझे भी यही विषय लेना है। मैंने थोड़ा बहुत इसका अभ्यास भी किया है। कालसी भी हो आया हूं (कालसी का अशोक-शिलालेख उसी समय प्रसिद्धि पा रहा था)। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी इस लेख पर दृष्टिपात करूं।" शिक्षक ने अपने छात्रों की ओर देखा। बगाली महाशय तो कुछ बोले नहीं। पर भाई नरेन्द्रदेवजी बोल ही उठे "क्या हर्ज है? इन्हे भी देखने दीजिए।" मैं भी एक कुर्सी खींचकर वहीं जम गया। लेख की जिस पक्ति का वाचन हो रहा था, वह निम्न प्रकार की थी—

"××× गुप्तः पृथिवी विजित्य राजा जयत्या ××× जिमेधः।" इसमें छह अक्षर अस्पष्ट तो क्या अदृश्य से ही थे। पहले तीन अक्षर

बगाली मित्र पढ चुके थे 'समुद्र'। नरेन्द्रदेवजी ने बड़ी बुद्धिमानी से अंतिम दो अक्षर पढ़े थे 'तवा'। विचार चल रहा था 'त' के पूर्वाक्षर का। इसमें सबकी सम्मति थी कि वह 'ह' हो सकता है। अशोककालीन लिपि का तो थोड़ा-बहुत अभ्यास कर चुका था, पर गुप्त लिपि से मेरा परिचय 'नही' के बराबर ही था। फिर भी प्राचीन पद्धति से संस्कृत सीखा होने के कारण मैं विचार करने लगा कि यहां 'आ' उपसर्गपूर्वक कौन से धातु का 'क्लांत' रूप हो सकता है। थोडी देर में नरेन्द्रदेवजी बोले "त्याहित वाजिमेधः।" वेनिस महाशय 'ह' तो पढते थे, किन्तु 'ह' के ऊपर इकार का चिह्न नही दीख रहा था। मेरी ओर उनके देखने पर मैंने कहा, 'आहित' अग्नि के साथ तो प्रयुक्त हो सकता है पर 'मेध' के साथ वह मेल नही मिलता। इतने में भाग्यवश मुझे 'आहृत' शब्द सूझा और मैंने धीरे से उसे सुझाया। सबो को वह ठीक लगा और नरेन्द्र भाई बोल उठे, यह तो छद मालूम पड़ता है—"समुद्रगुप्त· पृथ्वीं विजित्य, राजा-जयस्याहृत वाजिमेधः।" अक्षर तो पढ़े थे नरेन्द्रदेवजी ने, मैंने केवल सुझाया था, लेकिन काकतालीय न्याय से वह मान्य हुआ। बंगाली मित्र बोले कुछ नही पर नरेन्द्र भाई ने मेरा अभिनंदन किया। हम दोनो का आदर-भाव वहीं से बढ़ता चला गया।"

"परिचय बढ़ते-बढ़ते मित्रता में बदल गया। धीरे-धीरे बड़ी खूबी से भाईजी ने मेरा सारा पूर्व इतिहास मेरे ही मुख से निकाल लिया। माता-पिता का वियोग, 1909 का ग्वालियर षड्यंत्र, उसमें प्राप्त मेरा दो साल का सश्रम कारावास, मेरी निर्धनता किंतु साथ ही विद्या प्राप्ति की अभिलाषा आदि। सुनकर भाईजी का मृदु हृदय पिघला और स्नेह से भरे शब्दों में आपने कहा, "किताबों के विषय में आप चिंता न कीजिए। मैंने बहुत-सी पुस्तकें खरीद ली हैं, और शेष खरीद लूगा। हम दोनो एक ही किताबो पर से अध्ययन करेगे।" मेरे सिर का बोझ एकदम से उतर गया। दोनों मिलकर अध्ययन करने लगे। सुबह वेनिस महोदय के बगले पर और दोपहर नरेन्द्रदेवजी के कमरे मे। यथाक्रम हमारी परीक्षा हुई। हमारे बंगाली भाई प्रथम श्रेणी मे और हम दोनो द्वितीय श्रेणी में पास हुए। मेरी सफलता का सारा श्रेय उन्ही को था। जिस शुद्ध भाव से उन्होंने मेरा अभिनंदन किया, उससे तो मेरा आदर उनके प्रति नितांत बढ़ गया।"

गैर-राजनीतिक मित्रो में स्व० ठा० जयदेव सिंह का नाम भी भुलाया नही

जा सकता। जयदेव सिंह के विद्यानुराग, विशेषकर शैवदर्शन और संगीत शास्त्र से कौन परिचित नहीं होगा। वह 1918 में फैजाबाद तत्कालीन हिन्दू हाई स्कूल मे अध्यापक नियुक्त हो कर गए। आचार्य नरेन्द्रदेव एल० एल० बी० करने के बाद अनिच्छा रहते हुए भी पिता का आदेश मानकर 1915 से वहा वकालत कर रहे थे। वही जयदेव सिंहजी से इनकी परस्पर मैत्री हुई और आजीवन बनी रही। जब तक ये दोनो व्यक्ति फैजाबाद मे रहे, रोज संध्या-समय शाम को साथ-साथ घूमने जाया करते थे और प्रत्येक रविवार की दोपहर तक का समय साथ व्यतीत करते थे। वस्तुतः नरेन्द्रदेवजी गरीबो, विशेषकर गरीब बच्चो की मुफ्त चिकित्सा करते थे। उन्होने इसके लिए बायो-कैमिक चिकित्सा पढी और काकीनाडा से दवाए मगाकर उन्हे गरीबों को बांटा करते थे। जयदेव सिंह को वह हर रविवार को घर पर बुलाते और उन्हे भी गरीबों की चिकित्सा में व्यस्त रखते। उन्होने भी अपने पिता की तरह दान देने मे जीवन का महत्व समझा था। उन्होने पाठ्य पुस्तकें खरीद-खरीद कर पुस्तकालय बनाया था और इस प्रकार वह गरीब विद्यार्थियों को पढ़ने की सुविधा प्रदान करते। ठाकुर साहब उनके अतरंग मित्र थे, इसकी एक घटना ही प्रमाणस्वरूप काफी होगी। एक बार आचार्यजी आर्थिक संकट मे पड़ गए। अपने घर के एक अमूल्य चित्र को बेचकर ही उन्हे अपने कष्ट-निवारण का मार्ग सूझ रहा था। इस कार्य के लिए उन्होने जयदेव सिंह की ही सहायता ली थी। जयदेव सिंहजी आचार्यजी के बाद भी 95 वर्ष की आयु तक जीवित रहे और जब कभी आचार्यजी की बात चल पड़ती, उनके मुख पर एक विशेष प्रकार की चमक और भाव का उदय हो जाता। उसे एक शब्द मे तो किसी भाषा मे नहीं कहा जा सकता, पर उससे यह स्पष्ट हो जाता कि वह एक ऐसे महापुरुष के मित्र होने का गर्व धारण किए हुए हैं जो गुणो का आगार था और एक ऐसा महामानव था जिसकी परख बहुत थोड़े लोगो को ही थी।

आचार्यजी के अनन्य मित्रों में सम्पूर्णानंदजी का नाम भी उभरकर सामने आता है। जिन लोगों ने इन दोनो को ही समान रूप से जाना है, उनके लिए भी यह अंदाज लगाना मुश्किल होता था कि किसमें किसके लिए अधिक आदर है। दोनों ही एक दूसरे के प्रति स्नेह और आदर का भाव रखते थे। पर इन दोनों की मित्रता की बुनियाद सैद्धांतिक विचार-स्वातंत्र्य और एक

प्रकार के अक्खड़पन के आधार पर पड़ी थी। शुरुआत की कहानी इस प्रकार प्रारम्भ होती है। आचार्य नरेन्द्रदेव काशी विद्यापीठ मे आ चुके थे। सम्पूर्णानंदजी भी बीकानेर से इस्तीफा देकर काशी आ चुके थे। बीकानेर रहते हुए उन्होंने 'सम्राट अशोक' नाम से एक पुस्तक लिखी थी। काशी आने पर उसके प्रकाशन का प्रश्न ज्ञानमंडल प्रेस के सामने उपस्थित हुआ। ज्ञानमडल के अधिष्ठाता बाबू शिवप्रसाद गुप्त थे। आचार्यजी के साथ उनकी मित्रता के कारण और उनकी स्वयं की विद्वत्ता के कारण ज्ञानमंडल इस प्रकार की पुस्तकों पर शायद आचार्यजी की राय लेने की परिपाटी चला चुका था या केवल इस पुस्तक की विषयवस्तु के कारण उन्होने इसे आचार्यजी के पास उनकी राय जानने के लिए भेजा। उनका उसके कुछ अंशों के विषय मे मतभेद था, विशेषतः वह उसके उस भाग को प्रामाणिक नहीं मानते थे जिसमे तत्कालीन कला पर विचार किया गया था। ज्ञानमंडल वालो का यह कहना उचित ही था कि वह पुस्तक को तभी छाप सकते हैं, जब उसके वह अंश निकाल लिए जाएं, जिन पर आचार्यजी को आपत्ति थी। परंतु हठधर्मी करके मैंने यह कहा कि मैं पुस्तक में से एक शब्द भी बदलने को तैयार नहीं। फलतः वह ज्ञानमंडल से प्रकाशित न हो सकी। थोड़े दिनों बाद वह पुस्तक कानपुर मे प्रकाशित हुई। आपस की जान-पहचान का आरम्भ तो इस प्रकार हुआ, परंतु इस बात की इसके बाद न कभी आचार्यजी ने चर्चा की, न मैंने; और हमारे आपस के सम्बंध में इसके कारण कभी कोई फर्क न आने पाया। विद्यापीठ मे तो साथ रहता ही था, उसके बाहर भी राजनीतिक क्षेत्र मे काम करने के बराबर अवसर आते रहते थे। दोनों के स्वाभिमान और एक दूसरे की मनोभावनाओं का आदर करने की पहचान इस प्रसंग से खुलती है। दोनों की मित्रता युवावस्था में ही हुई थी और उसका संकेत भी सम्पूर्णानंदजी के ही शब्दों में देख लें। सम्पूर्णानंदजी लिखते हैं, "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों मे बहुधा स्व० शिवप्रसाद गुप्त, आचार्यजी, श्रीप्रकाशजी और मैं साथ ही जाया करते थे। उम्र भी बहुत अधिक नहीं थी। सुनते सब कुछ थे, परंतु गम्भीर भाव से हमने बहुत कम ग्रहण किया होगा। इसी प्रकार मध्य प्रदेश से रवीन्द्र राव, श्री भार्गव, सेठ गोविंद दास और श्री छेदीलाल आया करते थे। कुछ लोग ऐसा कहते थे कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी मे यह दो चांडाल चौकड़ियां हैं। परंतु कभी-कभी हंसी-मजाक मे हमारे हाथों अच्छा काम भी हो जाता था। गया कांग्रेस की एक महत्वपूर्ण घटना याद आती है। विचारणीय

प्रश्न यह था कि कांग्रेसजन कौंसिलों में जाएं या न जाएं, बहस का अंत ही न होता था। स्वागत समिति के सारे प्रबंध टूट गए। सभापति श्री चित्तरंजन दास शांति के साथ सबको बोलने का मौका देते थे। और तो कोई कम ही बोलता, परंतु न जाने कहां से मौलाना लोगों की बाढ़-सी आ गई थी। इन सब लोगों की खिलाफत आंदोलन मे दिलचस्पी थी। दो ढाई घंटे से कम तो कोई बोलता ही न था। हर व्यक्ति कुरान और हदीस से लम्बे-लम्बे उद्धरण देकर यह सिद्ध करता था कि कौंसिलो मे जाना पाप है, जहन्नुम में पहुंचने का सीधा रास्ता है। ऐसा लगता था कि इन धार्मिक पुस्तको मे कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर ही विवेचन किया गया है। सब लोग ऊब गए थे, परंतु इस जाल से बाहर निकलने का कोई मौका न दीख पडता था। आखिर काशी की चांडाल-चौकडी को एक बात सूझी। हमने बड़ी गम्भीरता के साथ देशबंधु से यह प्रस्ताव किया कि अभी इस प्रश्न का निर्णय न किया जाए। विवाद स्थगित कर दिया जाए और काशी से कुछ विद्वान पंडित बुला लिए जाएं, ताकि यह मालूम हो जाए कि हिन्दू धर्म शास्त्र इस विषय पर क्या कहते है। उनका मत पाने के बाद ही हम लोग इस पर कोई राय कायम कर सकेगे। जहा तक याद पडता है इन्द्रदेव वाचस्पति ने हमारा समर्थन किया। यह तो सब लोग समझते थे कि यह प्रस्ताव शरारतपूर्ण हैं, परंतु जोरों से उसका अनुमोदन हुआ। मौलाना लोगो की समझ मे यह बात आ गई कि अब इस बात को यहीं खत्म करना चाहिए और बहस समाप्त हो गई।

काशी की चौकडी के जिन व्यक्तियो का नाम ऊपर आया है, उनमें श्री-प्रकाशजी आचार्यजी के एक ऐसे मित्र थे जो समवयस्क मित्र होने के साथ-साथ उनके अभिभावकत्व का भी भार लिए रहते थे। इनकी पहली मुलाकात पं० मदन मोहन मालवीय के घर पर इलाहाबाद में 1919 में हुई थी। श्री-प्रकाशजी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक मे भाग लेने इलाहाबाद गए थे और मालवीयजी के मकान पर शिवप्रसाद गुप्तजी के साथ ठहरे थे। शिवप्रसादजी तो नरेन्द्रदेवजी के सहपाठी भी थे। उनसे मिलने नरेन्द्र-देवजी मालवीयजी के घर पर आए और वहीं इन लोगों ने एक दूसरे को देखा, पर जान-पहचान बाद में ही हो सकी। श्रीप्रकाशजी को इस बात का दुख रहा कि विदेशी परिपाटी के अनुसार इनका नरेन्द्रदेवजी से विधिवत औपचारिक परिचय नहीं कराया गया। उसी यात्रा में श्री प्रकाशजी ने यह भी पाया कि

नरेन्द्रदेवजी उस समय के प्रसिद्ध उर्दू कवि अकबर के शेर हर बात पर लगातार सुनाते रहते और चेहरे पर शरारतभरी मुस्कुराहट भी लाते रहते। उसी बैठक मे ये दोनों ही अमृतसर कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि भी चुने गए और फिर तो यह प्रथम जान-पहचान प्रगाढ़ मैत्री मे बदलती गई। आचार्यजी के प्रति श्रीप्रकाशजी के मन में आगे चलकर इतनी श्रद्धा और आदर का भाव घर कर गया कि उन्होंने अपने लड़कों के यज्ञोपवीत संस्कार में गायत्री मन्त्र की दीक्षा किसी ब्राह्मण से न दिलाकर आचार्यजी से ही दिलवाई थी। श्री-प्रकाशजी आचार्यजी को बीमारी मे भी काम करते देखकर किस प्रकार दुखी होते थे, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। जिस प्रकार की हित-चिन्ता नरेन्द्र-देवजी की श्रीप्रकाशजी करते थे, वह एक अभिभावक ही कर सकता था। आचार्यजी उन्हें अपना प्रचारक मानते थे। वह स्नेहवश उन्हे आचार्य कहने लगे और तब से यह शब्द उनके नाम का अग ही बन गया। श्रीप्रकाशजी किस प्रकार उनके अभिभावक कहे जा सकते हैं, यह आचार्यजी की लेखनी से ही पढने लायक है। वह अपने संस्मरण में लिखते हैं, "मैं उनके घर में महीनों रहा हू। वह मेरी सदा फिक्र उसी तरह करते है, जैसे माता अपने बालक की। उनकी मेरे बारे में राय है कि मैं अपनी फिक्र नही करता हू, शरीर के बारे मे बडा लापरवाह हू।"

आचार्य नरेन्द्रदेव के सुहृद मित्रों की संख्या कम नही थी। पर राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त व्यक्तियों में जवाहरलालजी, युसुफ मेहर अली, अच्युत पटवर्धन, बाबू गंगाशरणजी, प्रो० डी० पी० मुखर्जी, डा० रामधर मिश्रा और दामोदर स्वरूप सेठ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सबके साथ इनकी जितनी घनिष्ठता और साहचर्य रहा, उनका विस्तार बहुत अधिक स्थान की अपेक्षा रखता है। इन सभी ने आचार्यजी के प्रति अपने सस्मरण लिखे हैं और अपनी अंतरगता की चर्चा की है। जवाहरलालजी से अपने सम्बंध की चर्चा करते हुए आचार्यजी ने अपने एक संस्मरण मे लिखा है कि "सबसे वह (श्रीप्रकाशजी) मेरी प्रशसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहर-लालजी से होमरूल आंदोलन के समय से था, तथापि श्रीप्रकाशजी द्वारा उनसे तथा गणेशजी से मेरी घनिष्ठता हुई।" जवाहरलालजी के प्रति आचार्यजी के मन में आदर भी था और स्नेह भी। यह इस हद तक स्थायी हो गया था कि जवाहरलालजी से कई सैद्धांतिक मतभेदों के बावजूद नरेन्द्रदेवजी उनका

आदर और सम्मान करते रहे। यह भाव उस समय भी बराबर बना रहा जब नरेन्द्रदेवजी ने अपना रास्ता कांग्रेस से सर्वथा अलग बना लिया। सेठजी का भी सम्बंध मित्रता से अधिक भाई-भाई का हो गया था, यद्यपि सेठजी की थोड़ी जान-पहचान इलाहाबाद में तभी हो गई थी जब नरेन्द्रदेवजी म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ते थे और दामोदरस्वरूपजी हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। पर 1924 में जब दामोदरस्वरूपजी भी विद्यापीठ में अध्यापक होकर आ गए, यह जान-पहचान घनिष्ठता मे परिवर्तित हो गई। सच तो यही है कि जो भी एक बार आचार्यजी के निकट सम्पर्क में आता, उनका ही होकर रह जाता था।

नरेन्द्रदेव और गांधीजी

आज से सौ साल पहले यह देश गुलाम होते हुए भी कई दृष्टियो से स्वावलम्बी और आत्मनिष्ठ था। यद्यपि अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ हो गई थी और धड़ल्ले से विदेशी आचार-विचार मे दीक्षित तथा अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षित युवक और कुछ हद तक युवतियां भी देशभर में फैल रहे थे एवं पढ़े-लिखे समाज के कुछ हिस्सों मे पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुसरण भी हो रहा था फिर भी कुछ लोग अंग्रेजी पढ़े-लिखे होकर भी अपने बच्चो को अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय परम्परा से शिक्षा दिला रहे थे। नरेन्द्रदेवजी के पिता ऐसे ही अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगो मे से थे और नरेन्द्रदेव ऐसे ही बालक, जो दस वर्ष की अवस्था मे यज्ञोपवीत हो जाने के बाद नित्य प्रति पिता के साथ संध्या करते और गायत्री मन्त्र का जप भी। रुद्री और गीता तो बचपन मे कठस्थ थी ही; 'रामचरित मानस' 'महाभारत' 'लघु सिद्धांत कौमुदी' और 'अमर कोश' के अध्ययन और वाचन ने उनको सस्कृतनिष्ठ बना दिया था। स्वामी रामतीर्थ अक्सर उनके घर आकर ठहरते थे और उनके सान्निध्य से नरेन्द्रदेव आध्यात्म के उस मार्ग को भी देखने लगे थे, जहां से गुजर जाने पर आदमी हर मका से निस्बत तोड़ लेता है। बचपन से ही नरेन्द्रदेवजी का आध्यात्मिक पक्ष और सस्कृत के माध्यम से प्राप्त होने वाली विद्याओ का ज्ञान प्रबल होता जा रहा था। स्वामी रामतीर्थ और श्री अरविन्द की आध्यात्मिकता में अंग्रेजों की गुलामी से न केवल देश की मुक्ति का भाव स्पष्ट था वरन् उसमे कुछ कर गुजरने का आवेग भी था। राजनीतिक स्तर पर कांग्रेस की स्थापना तो हो ही चुकी थी। चाहे नर्मी से हो अथवा गर्मी से, आजादी की माग स्वशासन के पर्दे से झांकने लगी थी। दस वर्ष की अवस्था मे नरेन्द्रदेव कांग्रेस के अधिवेशन मे पिता के साथ लखनऊ पहुंच गए थे और प्रतिनिधियो का बिल्ला लगाकर दर्शकों की दीर्घा मे भी जा बैठे थे। बाद में शोर मचाने के कारण निकाले गए। उसके बाद तो कांग्रेस के अधिवेशन में बनारस भी गए। तब वह लगभग पन्द्रह वर्ष के हो चुके थे। इसी बीच बंग-भंग ने बहुत-से नवयुवकों को

अराजक बना दिया था। अनेक वयोवृद्ध नेता भी इसमें शामिल थे। कांग्रेस मे दोनो ही मत के लोग थे। वे भी, जो क्रांति का रास्ता अपनाना चाहते थे और वे भी, जो केवल ब्रिटिश शासन का विरोध-मात्र करके सतोष करना चाहते थे। नरेन्द्रदेव पहले बाल गगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष, और लाला लाजपत राय से अधिक प्रभावित हुए। सन् 1906 मे कलकत्ता कांग्रेस से लौटकर युवा नरेन्द्रदेव ने स्वदेशी का व्रत ले लिया। उनकी विचार-धारा, उनका रहन-सहन यहीं से दृढतापूर्वक अपने देश की जमीन पर खडा होने लगा। किन्तु एक विशेषता थी नरेन्द्रदेवजी में। उनके लिए विदेशी चीजें और विदेशी विचार केवल विदेशी होने के कारण अग्राह्य नही थे बल्कि उन्होने इनका त्याग या बहिष्कार तक, विवेक तथा गहरे स्वाध्याय से उत्पन्न चिन्तन द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर करना शुरू किया था। वह किसी का भी अधानुसरण नही कर सके। यही कारण था कि जब यह निर्णय लिया गया कि प्रातीय कांग्रेस कमेटी के प्रत्येक सदस्य को दो हजार गज सूत कातकर सदस्यता के शुल्क के रूप में देना अनिवार्य होगा, तब आचार्यजी ने प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। पर खादी पहनना नही छोडा। कुछ दिन बाद जब यह अनिवार्यता हटा ली गई तो वह पुन. सदस्य बन गए।

गांधीजी भारतीय राजनीति में आ चुके थे। गोखले के शील स्वभाव, उनकी निष्काम सेवा और कर्तव्यनिष्ठा से प्रभावित होकर गांधीजी ने उन्हे अपना गुरु माना था। गांधीजी ने आगे चलकर निष्काम सेवा को गीतामृत से और पुष्ट किया और उसे त्याग की चरम सीमा तक ले गए। शील के साथ दृढता को उसका अभिन्न अंग बनाकर उन्होने शीलवान पुरुष मे शक्ति का तेज भरा और कर्तव्यनिष्ठा को अपने जीवन में सक्रिय और मूर्त रूप प्रदान किया। इन विशेषताओं के कारण गांधीजी के व्यक्तित्व मे एक तेजोमय उग्र शक्ति का उदय हुआ। नरेन्द्रदेव इस तेज से अभिभूत हुए थे और आजीवन शील, निष्काम सेवा और कर्तव्यनिष्ठा मे भरे रहे। उनमे इन गुणों का यह व्यावहारिक रूप गांधीजी की देन थी और उसमे नरेन्द्रदेवजी का जीवन अंत तक परिचालित होता रहा था। यद्यपि नरेन्द्रदेव गांधीजी और उनके बहुत-से विचारों से बहुत पहले ही प्रभावित हो चुके थे, पर गांधीजी से उनका निकट का परिचय तब हुआ, जब वह 1929 में काशी विद्यापीठ के दीक्षांत समारोह

में आए। गांधीजी नरेन्द्रदेवजी की प्रतिभा और व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने श्री प्रकाशजी से कहा कि "नरेन्द्रदेव तो नररत्न हैं, जिन्हें बहुत पहले ही उन्हें जान लेना चाहिए था।" यहां इतना और कहना जरूरी जान पड़ता है कि गांधीजी के चित्त पर नरेन्द्रदेवजी के बारे में जो यह प्रथम प्रभाव पड़ा, वह अंत तक बना रहा। वैचारिक मतभेदों के बावजूद भी गांधीजी उन्हें देश और कांग्रेस के लिए बहुत ही योग्य और उपयोगी नेता मानते रहे।

यद्यपि आचार्य नरेन्द्रदेव कांग्रेस और उसकी विचारधाराओं से बहुत पहले ही, विशेषकर तिलक और लाला हरदयाल के प्रभाव के कारण जुड़ चुके थे, फिर भी कांग्रेस में उनकी सक्रियता गांधीजी के प्रभाव मे आने के दिनों में अधिक बढी और वह उसमें 1930 मे उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान-मंत्री बनकर आए। सन् 1916 के कांग्रेस मुस्लिम लीग समझौते से अंग्रेजी सरकार को विशेष चिन्ता हो गई थी। तिलक पुनः कांग्रेस में आ चुके थे और कांग्रेस मे उग्रवादियों का, जिन्हें गरमदल कहा जाता था, प्रभुत्व बढ़ गया था और स्वशासन की मांग, भारतीय सेना में अफसरों के पदों पर भारतीयो की भर्ती, आदि की मागें भी बढ रही थी पर गांधीजी का नेतृत्व प्रायः मान्य हो चुका था। नरम और गरमदल वालो में समझौता भी हो चुका था, यद्यपि कुछ बातो मे उनका मतभेद बराबर बना रहा। उदाहरण के लिए 1920 में व्यवस्थापिका सभा के चुनावो मे भाग लेने के प्रश्न पर दोनों पक्षों मे गहरा मतभेद था। गांधीजी चुनावों के बहिष्कार के पक्षपाती थे और तिलक चुनावों मे भाग लेने के पक्ष में थे। नरेन्द्रदेवजी ने बहिष्कार को एक प्रकार से ठीक नहीं माना था, फिर भी उन्होने गांधीजी का विरोध नही किया। अनुशासन प्रिय होने के कारण नरेन्द्रदेवजी अपने राजनीतिक दल के निर्णयो को अंततः मानना ही उचित समझते थे। जब 1926 मे कांग्रेस ने कौंसिलो के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया तब नरेन्द्रदेवजी भी कौंसिल मे जाने के लिए तैयार हो गए।

आचार्य नरेन्द्रदेव के भीतर एक स्वतंत्र चिंतन की धारा प्रारम्भ से ही पुष्ट होती रही और उनका स्वाध्याय उसे बल और वेग देता रहा। कांग्रेस में रहते हुए जब भी आर्थिक साम्य स्थापित करने का कोई कार्यक्रम या विचार बनता, नरेन्द्रदेवजी उसके साथ होते। भारतीय समाज के नव निर्माण को वह आजाद

हिन्दुस्तान के लिए अत्यावश्यक समझते रहे। यही कारण था कि जब सुभाष चन्द्र बोस और जवाहरलालजी के प्रयत्न से इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग (भारतीय स्वाधीनता संघ) कायम हुई तो नरेन्द्रदेवजी उसके भी सदस्य हो गए और उत्तर प्रदेश में उस संगठन के वह मंत्री भी बने। पर जब 1930 में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया, तो उक्त संस्था की स्वतंत्र सत्ता निरर्थक हो गई। 26 जनवरी 1930 में गांधीजी के नेतृत्व में जब सारे देश में पूर्ण स्वराज्य दिवस मनाया गया और गांधीजी ने नमक कानून तोड़ने के लिए डांडी यात्रा की, तब नरेन्द्रदेवजी भी उसमें अपने विद्यार्थियों और सहयोगी अध्यापकों के साथ कूद पड़े। यही सविनय अवज्ञा आंदोलन आगे चलकर नमक सत्याग्रह के नाम से अधिक लोक-विख्यात हुआ था। इस आंदोलन को संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) में आगे बढ़ाने में नरेन्द्रदेवजी का सक्रिय योगदान रहा था और वह प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के स्थानापन्न प्रधानमंत्री भी रहे। आगे चलकर इस आंदोलन के कार्यक्रम को चलाते हुए वह बस्ती से गिरफ्तार भी हुए और उन्हें तीन मास की सजा भी हुई थी।

गांधीजी की सक्रिय राजनीति में तो वह उनके साथ सदा ही रहे, पर उनके विचारों से भी उनका काफी साम्य रहा। समाजवाद को लेकर भले ही उनका और गांधीजी का मतभेद रहा हो, पर उसके चलते नरेन्द्रदेवजी ने ऐसा अवसर कभी नहीं आने दिया जब यह प्रकट हुआ हो कि वह गांधीजी को अपना या देश का सर्वश्रेष्ठ नेता नहीं मानते या उनके नेतृत्व में काम नहीं चाहते हो। हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर भी उनमें और गांधीजी में बहुत विचार साम्य था। गांधीजी की तरह वह भी मानते रहे कि जब तक देश में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा बना रहेगा, राजनीतिक स्वतंत्रता दूर होती जाएगी और अर्थहीन भी हो जाएगी। इसी प्रकार हरिजनों के सम्बंध में भी गांधीजी के विचारों से वह बराबर सहमत रहे और मानते रहे कि हरिजन भारतीय समाज के, विशेषकर उसके बहुसंख्यक हिन्दू कहे जाने वाले समाज के मुख्य अंग हैं और उन्हें इससे अलग नहीं रखा जा सकता। हरिजनों को हिन्दू समाज से अलग करने की अंग्रेजों की कूटनीति का वह सदा विरोध करते रहे। गांधीजी के कार्यक्रमों में निहित भावी निष्पत्ति की पहचान नरेन्द्रदेवजी को बखूबी थी, यही कारण था कि वह उनके हर कार्यक्रम में सदा सक्रिय सहयोगी बने रहे। गांधीजी का कोई भी कार्यक्रम उन्हें अमान्य नहीं हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल की

स्थापना के बाद भी वह गांधीजी का ही नेतृत्व मानते रहे और देश की आजादी के लिए हर कुर्बानी देते रहे।

सन् 1932-33 मे सविनय अवज्ञा आंदोलन की विफलता ने बहुत-से युवा कांग्रेसियों को विचलित कर दिया था। उस विफलता के कारणो का वर्णन करना यहां अप्रासंगिक होगा, पर जिस प्रकार गांधीजी ने उसे स्थगित कर देने का आदेश दिया, वह एक प्रासंगिक विषय है। इसकी विफलता और गांधीजी द्वारा आंदोलन को स्थगित करने के आदेश में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना के बीज उत्पन्न हुए। रफी अहमद किदवई, नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानंद प्रभृति कई कार्यकर्ताओ को सारी समस्या पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। हरिजनो की ओर गांधीजी का विशेष ध्यान गया और उन्हे हिन्दू समाज का अभिन्न अंग बनाए रखने के प्रश्न पर उन्होंने आमरण अनशन भी किया। हरिजनों के लिए गांधीजी ने आगे चलकर कई बार अनशन किए और उनके जीवन का उत्तरार्ध तो प्रमुख रूप से हरिजन सेवा मे बीता। पर नरेन्द्रदेव और सम्पूर्णानंद आदि नेताओं को इस बात की भी आवश्यकता जान पडी कि कांग्रेस के कार्यक्रम मे, उसकी चिन्तन धारा मे मजदूरो और किसानो का भी विशेष स्थान होना चाहिए। गांधीजी भी इस बात को अच्छी तरह महसूस करते थे, पर उनकी दृष्टि में भारतीय समाज की समग्रता को व एकता को बनाए रखने और उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर करते रहने के लिए यह आवश्यक था कि वह भारतीय समाज के आध्यात्मिक पक्ष पर जोर देते रहे। गांधीजी के आध्यात्मिक चिन्तन मे धार्मिक कट्टरता या रूढिवादिता नही थी। वह भारत के सांस्कृतिक विकास की ऐतिहासिक धारा को पुन प्रवाहित करना चाहते थे, ताकि भारत की एकता को अक्षुण्ण रखा जा सके। उनके इन विचारों से नरेन्द्रदेवजी पूर्णत: सहमत थे पर इन युवा नेताओ को अपने देश के किसानो और मजदूरों की आर्थिक दीनता अधिक पीडादायक लग रही थी। ये उसकी उपेक्षा नहीं कर पा रहे थे और उसके लिए विशेष चिन्तित थे। इनकी दृष्टि मे समाजवाद के सिद्धांत इस समस्या के समाधान के आकर्षण केन्द्र बन रहे थे। गांधीजी सभी समस्याओ का समाधान स्वाधीनता मे ही देख रहे थे, अथवा तब तक देखते रहना चाहते थे जब तक कि पूर्ण स्वाधीनता, जो कांग्रेस का एकमात्र लक्ष्य बन चुका था, प्राप्त न हो जाए। वह भारतीय समाज और उसके विभिन्न वर्गों के आर्थिक सम्बधों का

विश्लेषण तब तक शायद उचित नही मानते थे। उन्हें इस बात का भय था कि इस प्रकार के विश्लेषणो मे वर्ग संघर्ष का समय से पहले उदय हो जाएगा और वह पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य को धूमिल बना देगा।

समाजवादी विचारधाराएं इस देश में कब और कैसे आईं, यह अपने आप मे एक स्वतंत्र एवं रोचक प्रकरण है। उसे छोटा करना या उसे किसी और विषय के साथ सम्बद्ध करके देखना उसके प्रति अन्याय होगा। पर यह संकेत करना जरूरी है कि वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा पश्चिम से आई, कई रास्तो से आई, टुकडो मे बंटकर आई और आवश्यक प्रतीत हुई। कुछ उसे उसके मूल आयातित रूप मे ही ग्रहण करने के पक्षधर हुए, कुछ उसके संशोधित रूप को ग्रहण करने के पक्ष मे थे तो कुछ ऐसे भी थे जो उसको भारतीय मनीषा की कसौटी पर कसकर उसे स्वतंत्र भारतीय रूप देने के पक्ष मे थे। गांधीजी के अध्यात्म मे मानवीय करुणा, जो बौद्ध परिभाषा की महाकरुणा का रूप ले चुकी थी, बंधुत्व और समता को बिना आधार बनाए आगे बढ़ ही नही सकती थी। यद्यपि इस प्रकार के चिन्तन को व्यवस्थित रूप देने और उसके दर्शन को स्पष्ट करने का समय गांधीजी के पास नही था, फिर भी वह उसे स्पष्टतः देख रहे थे। यही कारण था कि जब सम्पूर्णानंदजी ने अपनी 'समाजवाद' नामक पुस्तक लिखी और उसे गांधीजी को पढने के लिए भेजा तो गांधीजी ने उसकी प्रशंसा करते हुए उन्हे दर्शन सम्बंधी एक स्वतंत्र पुस्तक लिखने का आग्रह किया। उसके फलस्वरूप सम्पूर्णानंदजी की दर्शन सम्बंधी पुस्तक 'चिद्विलास' नाम से प्रकाशित हुई। नरेन्द्रदेवजी को भी अपने चिन्तन के दार्शनिक पक्ष को विस्तार के साथ मूर्त रूप देने का अवसर नही मिला। यह भारत के बौद्धिक विकास में एक कमी के रूप में देखा जाएगा। यदि वह समय निकाल कर—सच तो यह है कि यदि उन्हें इसके लिए समय दिया गया होता तो इस विषय पर उनके द्वारा लिखित पुस्तक का महत्व सहस्रो भाषणो और आंदोलनों से कहीं अधिक होता। इसके अभाव मे हर व्यक्ति उनके समाजवाद की अपनी व्याख्या उपस्थित करने के लिए स्वतंत्र छोड दिया गया है।

ऊपर की कुछ बातो को कहने का अभिप्राय यह भी है कि गांधीजी और नरेन्द्रदेवजी में कार्यक्रम के धरातल से ऊपर उठने पर विचार साम्य था और आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों एक ही भाव भूमि मे बैठे हुए थे। इस बात को

स्पष्ट करने के लिए नरेन्द्रदेवजी के विचारों से एक उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। समाजवाद के सांस्कृतिक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए नरेन्द्रदेवजी कहते हैं कि "वस्तुस्थिति यह है कि समाजवाद का अर्थ केवल उत्पादन के साधनो का समाजीकरण नही है अपितु अपने जीवन का भी समाजीकरण है। एक समाजवादी केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए नहीं जीता है, बल्कि सकल समाज के लिए जीता है। उसका हृदय उदार और विशाल होता है और मानवीय पीड़ा का वह वैसे ही हिसाब रखता है जैसे भूकम्प-मापक यंत्र मृदु-से-मृदु कम्प का।" यह जो सकल समाज के लिए जीवन को उत्सर्ग करने की भावना है, वही गांधीजी की वैष्णवी करुणा की भी भावना है। पर पीडा को पहचाने बिना जन की प्रतिष्ठा हो ही नही सकती। नरेन्द्रदेवजी स्वय मानते थे कि भारत वर्ष मे गांधीजी प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने किसी भी राष्ट्रीय सग्राम मे जनता के महत्व को समझा। उनके पूर्व हमारा शिक्षित वर्ग या तो वैधानिक उपायों मे विश्वास करता था या षड्यंत्रकारी कामों मे। गांधीजी ने जनता से अपनी पूर्ण एकरूपता स्थापित की और जब भारत स्वतंत्र हुआ तो उन्होने एक वर्गविहीन और जातिविहीन समाज की स्थापना का प्रतिपादन किया, जो शोषणमुक्त होगा और जिसमे जनता प्रभुसत्ताधारी होगी।

अत मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि तिलक के न रहने पर नरेन्द्रदेवजी ने गाधीजी को ही अपना और देश का भी नेता माना। वह जब तक कांग्रेस मे रहे, तब तक गांधीजी के नेतृत्व मे काम करते रहे। कांग्रेस से अलग होने पर भी आचरण की सभ्यता के लिए, समाज मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा के लिए गाधीजी ही उनके आदर्श बने रहे और कतिपय सैद्धांतिक मतभेदो के बावजूद राजनीति में गांधीजी ही उनके प्रभासूर्य बने रहे। उन्होंने अपनी पार्टी की लाल टोपी के लिए गांधी टोपी को नही छोडा।

समाजवाद के पोषक

नरेन्द्रदेवजी की जब शिक्षा-दीक्षा चल रही थी, उसी समय उन पर राजनीति और धर्म का प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। दस वर्ष की ही अवस्था मे वह अपने पिता के साथ लखनऊ कांग्रेस मे गए, वहा उन्होने लोकमान्य तिलक, रमेशचन्द्र दत्त और महादेव गोविंद रानडे के दर्शन किए और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए। महामना मालवीयजी और स्वामी रामतीर्थ का प्रभाव भी उन पर उन्ही दिनो पड़ा था। पिता काग्रेस भक्त थे। इन सबका मिला-जुला परिणाम यह निकला कि इन पर कांग्रेस और सनातन धर्म के सस्कार दृढ़ होने लगे। वह स्वदेशी भावना का युग था और सारे देश मे राजनीतिक हलचल थी। पं० माधव प्रसाद मिश्र अक्सर उनके घर पर आकर ठहरते थे, उनके द्वारा हिन्दी में अनूदित 'देशेरकथा' पुस्तक जो बाद में जब्त कर ली गई थी, उसका भी प्रभाव इनमे राष्ट्रीय भावना जगाने का कारण बना। सन् 1905-6 मे वह कांग्रेस के गरमदल मे शरीक हो चुके थे। कलकत्ते के दैनिक 'वन्दे मातरम्' के नियमित पाठक होने के कारण श्री अरविन्द के विचारो का विशेष प्रभाव भी उन पर पड़ चुका था। धीरे-धीरे इनका सम्बध कुछ क्रांतिकारियो से भी हुआ। इनके जो साथी विलायत पढने गए थे, वे इनके पास नियमित रूप से लदन, पैरिस, जैनेवा, बर्लिन आदि से क्रांतिकारी साहित्य भेजते रहे। सरकार के प्रतिबंधों के बावजूद उन्हे लाला हरदयाल का 'वंदे मातरम्', बर्लिन से प्रकाशित होने वाले 'ललकार' और पैरिस का 'इडियन सोशिओलोजिस्ट' पढ़ने को मिला करता था।

रूसी क्रांति की सफलता ने प्रायः विश्व के युवकों का ध्यान आकृष्ट किया। भारत के पढ़े-लिखे युवा बौद्धिक इसके अपवाद नही हो सकते थे। उनका ध्यान भी रूस से चोरी छिपे आने वाले प्रचार साहित्य के अध्ययन की ओर गया तथा ये लोग गहराई से इस साहित्य का अध्ययन करने लगे और उनके विचारों से प्रभावित होने लगे। भारतीय बौद्धिकों मे कुछ ऐसे लोग भी

थे जो इन दार्शनिकों के विचारों को पढ़ते समय अपने स्वतंत्र विश्लेषण की क्षमता के आधार पर उनकी नई व्याख्या कर रहे थे। नरेन्द्रदेवजी भी इन्हीं बौद्धिकों में से एक थे जो अपने देश की आजादी की लडाई लड़ते समय उसके प्राचीन इतिहास को भूल नही सके। विचारो के आदान-प्रदान को बौद्धिक विकास के लिए जरूरी मानते हुए भी वह आंखें बंद करके आयातित विचारो के समर्थक नहीं थे। भारत की राष्ट्रीयता और उसकी पहचान उनकी पहली शर्त थी। नरेन्द्रदेवजी को गम्भीर अध्ययन और स्वतंत्र चिन्तन के लिए काशी विद्यापीठ का कार्यकाल बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुआ। वहां रहते हुए वह अपने स्वतन्त्र विचारो की जांच अपने कुशाग्र विद्यार्थियो की ग्राहिका बुद्धि की स्वीकृति-अस्वीकृति से भी करते जाते और अपने विचारों के प्रभाव-क्षेत्र को बढने-बढाने में सुविधा भी प्राप्त करते रहे।

इसी बीच एक नई परिस्थिति भी उत्पन्न हुई। सन् 1930 और 32 का सविनय अवज्ञा आंदोलन विफल-सा प्रतीत हुआ। गांधीजी के द्वारा बिना किसी उचित कारण के सहसा आंदोलन को बंद कर देने की घोषणा से युवा कांग्रेसजनों मे क्षोभ की लहर उठती दिखाई पड़ने लगी थी। उन्हें इस बात का विश्वास-सा होने लगा था कि अहिंसात्मक सत्याग्रह से पूर्ण स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकेगा। साथ ही उन्हें इस बात का भी क्षोभ था कि कांग्रेस मे बहुमत मध्यम वर्ग के लोगों का बढ़ता जा रहा था। नरेन्द्रदेवजी सरीखे कांग्रेस के उग्र विचारवाले बौद्धिको का यह विचार दृढ होता चला जा रहा था कि कांग्रेस पूर्णतः मध्यम वर्ग की राष्ट्रीय संस्था बनती जा रही है। नरेन्द्र-देवजी का कहना था कि जब तक इस संस्था मे किसानो, मजदूरों और लाखों उन लोगों का सहयोग नही मिलता जो परतंत्रता की आग मे झुलसे आ रहे हैं और जिन्हे स्वतंत्रता की पहचान भी नही रह गई है, जो नियति के भरोसे यह मानकर जी रहे हैं कि "कोउ नृप होइ, हमैं का हानि" तब तक संघर्ष जन-वादी नही हो पाएगा और उसमें वह आंच नही आ पाएगी, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गरीबी को जला सके। नरेन्द्रदेवजी यह मानते थे कि मध्यम वर्गीय लोग क्रांतिकारी नही हो सकते। कांग्रेस मे ऐसे विचारो के काफी लोग थे, जो इस बात में विश्वास रखते थे कि जब तक आम आदमी, जो निरक्षर भी है और गरीब भी है, और ऐसे लोगो की अधिक संख्या किसानों और मजदूरो की ही थी, उनको विश्वास नहीं हो जाता कि वे भी शिक्षित होकर समाज में ऊपर

उठ सकते हैं और देश के राजनैतिक संचालन में उनका भी हिस्सा हो सकता है, तब तक स्वतंत्रता का यह संघर्ष सफल नहीं हो सकता।

जैसा कि उपर कहा जा चुका है। इस प्रकार के लोग समाजवादी साहित्य का एक ओर तो गम्भीर अध्ययन कर रहे थे और दूसरी ओर कांग्रेस में रहते हुए भी समाजवादी विचारो के आधार पर संघर्ष का कार्यक्रम तैयार करना चाहते थे। ऐसे लोगो के केन्द्र भी कई जगह बन चुके थे, जो दृढ़ता से विश्वास कर रहे थे कि समाजवादी आदर्शो के आधार पर कार्यक्रम बनाने से निम्न मध्यम वर्ग, खेत मजदूर, छोटे किसान, मजदूर और दूसरे पिछड़े वर्ग कांग्रेस के साथ हो जाएंगे, और यही वर्ग कांग्रेस की अंतिम लडाई लड़ेगा। इन विचारो के तहत काम करने वाले लोग अलग-अलग जगहों मे बिना इस बात को जाने हुए कि दूसरे स्थानो पर भी उस विचारधारा के अधीन कुछ काम हो रहा है, अपना-अपना कार्यक्रम बना रहे थे। फिर भी इस प्रकार के चार स्थानो का तो पता चल ही रहा था। ये केन्द्र थे—बम्बई, पटना, बनारस, और केरल। बम्बई में यूसुफ मेहर अली, एम० आर० मसानी, और अच्युत पटवर्धन दिशा-संकेत दे रहे थे। पटना का नेतृत्व जयप्रकाशजी कर रहे थे। केरल में नम्बूदिरिपाद विशेष महत्व रखते थे। बनारस की बागडोर यद्यपि किसी एक के हाथ मे नही थी फिर भी इस दिशा में संपूर्णानंदजी की भूमिका स्पष्ट थी। सन् 1930 के मोर्चे में सम्पूर्णानंदजी ने समाजवादी कार्यक्रम की एक रूपरेखा तैयार की थी, जिसमें यह बताने का प्रयत्न किया गया था कि अंग्रेज यदि चले गए तो कांग्रेस को क्या करना होगा। इस पुस्तिका का नाम था 'ह्वेन वी आर इन पावर'। इसका वितरण बड़े पैमाने पर हुआ था। पर तत्कालीन शासन के अतिरिक्त इसकी ओर किसी ने भी ध्यान नही दिया। इस पुस्तिका में नौ विशेष कार्यक्रमों का उल्लेख था। उनका हवाला देना अनुचित नहीं होगा, क्योंकि वे ही बाद मे चलकर न्यूनाधिक हेर-फेर से कांग्रेस समाजवादी पार्टी और प्रजा समाजवादी पार्टी के कार्यक्रम में स्थान पाते रहे।

1. जमींदारी उन्मूलन मुआवजों के साथ।

2 मुख्य यातायातों और भौतिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण।

3. खेती की जमीन की चकबंदी।

4 न्यूनतम मजदूरी की दरों और काम के घंटों का निश्चित किया जाना।

5. सबको काम की सुविधा और वृद्धों को पेंशन की व्यवस्था।

6. प्रत्येक स्त्री कर्मी को प्रसूति के एक महीने पहले और एक महीने बाद की सवेतन छुट्टी।

7. उन सभी बच्चों को भोजन और शिक्षा की निशुल्क व्यवस्था, जिनके माता-पिता नहीं हों अथवा जो इस दायित्व को वहन करने में आर्थिक रूप से असमर्थ हों।

8. पूर्ण नशाबंदी।

9. नमक कर से मुक्ति।

जैसा कि ऊपर कहा गया है समाजवाद की लहर सभी जगह जोर पकड़ रही थी और बौद्धिकों का विचार यही हो रहा था कि कांग्रेस में जो गतिरोध आ गया है उससे मुक्ति दिलाने का यही एक रास्ता है। सभी जगह समाजवादी ढांचे पर संगठित रूप से काम करने की बात चल रही थी। ऐसी स्थिति में सन् 1934 के ग्रीष्मकाल में सम्पूर्णानंदजी के घर पर इस प्रकार के विचार रखने वाले व्यक्तियों की एक बैठक में यह निर्णय लिया गया कि एक समाजवादी दल का संगठन किया जाए। इसके बाद देश के अन्य केन्द्रों के समाजवादी विचारों के लोगों से अनौपचारिक सम्पर्क किया गया और अंततः उसे अखिल भारतीय रूप देने के लिए पटना में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि बम्बई के अगामी कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर कांग्रेस के भीतर ही नियमित रूप से एक समाजवादी पार्टी का संगठन किया जाए। यह भी निर्णय लिया गया कि इसके पूर्व ही सारे प्रांतों में (उन दिनों प्रदेश को प्रांत ही कहा जाता था) प्रांतीय समाजवादी पार्टियां कायम कर ली जाएं जो बम्बई अधिवेशन में मिलकर अखिल भारतीय रूप ग्रहण करें।

बम्बई का कांग्रेस अधिवेशन अक्तूबर 1934 में हुआ। समाजवादी पार्टी का अधिवेशन 21-22 अक्तूबर को रैडीमनी हाल में आयोजित किया गया। इसमें सम्पूर्णानंदजी ने अध्यक्षता की थी। इसी अधिवेशन में कांग्रेस समाजवादी पार्टी का संविधान स्वीकृत हुआ था। एक कार्यकारिणी भी बनाई गई जिसके जनरल सेक्रेटरी जयप्रकाशजी हुए और अन्य सदस्यों के साथ सम्पूर्णानंद भी इसके सदस्य थे। आचार्यजी इस कार्यकारिणी के अध्यक्ष बने। इस प्रकार

समाजवादी पार्टी के जन्म के साथ जो आचार्यजी का सम्बंध बना, तो वे अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक समाजवाद के पोषक, समर्थक और भारतीय दृष्टिकोण से उसके व्याख्याता बने रहे।

नरेन्द्रदेवजी की समाजवादी विचारधारा का उद्भव और विकास उनकी राष्ट्रीयता और भारतीय समाज की आर्थिक और धार्मिक अधोगति से हुआ था। उनके सामने पराधीनता वह अभिशाप था, जिससे मुक्ति पाए बिना भारत और भारतीय समाज का अभ्युत्थान सम्भव न था। परंतु जहां विद्वानों के लिए स्वतंत्रता का अर्थ अंग्रेजों के शासन से छुटकारा पाना था, वहीं नरेन्द्र-देव स्वतंत्र भारत में भारतीय समाज को सभी प्रकार की यातनाओं और शोषण से मुक्त देखना चाहते थे। भारतीय इतिहास और धर्म के गहन अध्ययन के कारण भारतीय समाज की कमजोरियों और उसके पराभव के कारणों का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते हुए भारतीय जन को ऊपर उठाना भी उन्हें आवश्यक लग रहा था। भारतीय जन से उनका सरोकार सामाजिक सुधारक बनकर भी रह सकता था, जैसाकि उनके समकालीन और पूर्वज कई महान व्यक्तियों का हुआ। वह राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले स्वतंत्रता संग्राम के उद्भट सेनानी या नेता बनकर भी रह सकते थे। क्योंकि इस प्रकार के कई महान् व्यक्तियों की सोच में उद्देश्य की तात्कालिक सफलता के लिए बड़ा दम था। ऐसे लोगों का विचार था कि जब विदेशी हुकूमत को हटाने में न्यूनाधिक रूप से सबका सहयोग आवश्यक है, तब यह जरूरी नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ही भारतीय राजव्यवस्था और उसके आर्थिक आधार को विश्लेषित कर दिया जाए। उनका ऐसा ख्याल था कि ऐसा करने से स्वार्थों का स्पष्टीकरण हो जाएगा और लोग स्वतंत्रता की लड़ाई से हटकर अपने-अपने निहित स्वार्थों की रक्षा में लग जाएंगे और एक प्रकार का ऐसा वर्ग संघर्ष प्रारम्भ हो जाएगा, जो स्वतंत्रता को ढीला कर देगा और अंग्रेज शासक उसका लाभ उठाने लगेंगे। इसकी एक छोटी-सी मिसाल भी सामने आ चुकी थी। सम्पूर्णानंद ने समाजवादी कार्यक्रम की जो रूपरेखा अपनी पुस्तिका में कांग्रेसजनों के सामने 1930 में प्रस्तुत की थी, उसका लाभ उठाते हुए अंग्रेजों ने देशी जमींदारों को कांग्रेस के विरोध में खड़ा करने में काफी सहायता प्राप्त की थी। सब जमींदार एक कोटि में नहीं आते थे। जमींदार कहे जाकर भी अधिकांश जमींदार ऐसे थे जिनकी अवस्था बड़े किसानों से भी बदतर थी।

उनका योगदान स्वतंत्रता संग्राम में अनदेखा नहीं किया जा सकता था। सन् 1933-34 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगित हो जाने पर जो क्रियात्मक शून्यता आ गई थी, उसने बहुतों को नई क्रियाशीलता के लिए सोचने को और अग्रसर किया। उत्तर प्रदेश में रफी अहमद किदवई, आचार्य कृपालानी, आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानंद और कुछ अन्य लोगों ने मिलकर यह निश्चय किया कि दो विशेष कार्यक्रम इस अवधि में हाथ में लिए जाएं। एक तो उत्तर प्रदेश के गन्ना उत्पादक किसानों की शिकायतों और शोषणों की जांच करने का काम था, जो गन्ना मिल-मालिकों और गन्ना उत्पादकों से सम्बद्ध था। गन्ना उत्पादकों में छोटे जमींदार भी शामिल थे। दूसरा कार्यक्रम 1930-32 में जमींदारों द्वारा किसानों पर की गई उन ज्यादतियों की जांच करना था, जो उन पर कांग्रेस और स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय सहयोग देने के कारण की गई थीं। आचार्य नरेन्द्रदेव और सम्पूर्णानंद को देवरिया और गोरखपुर दिया गया। इन लोगों ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की तो बहुतों को यह विश्वास भी नहीं होता था कि किसानों पर जमींदारों द्वारा ऐसी ज्यादतियां भी की जा सकती थीं। दूसरे क्षेत्रों से दूसरे लोगों द्वारा तैयार की गई रिपोर्टों में भी ऐसी ही ज्यादतियों का जिक्र था। महात्माजी ने इस सम्बंध में तत्कालीन वायसराय से पत्र-व्यवहार किया था और उसमें एक प्रकार का आरोप पत्र भी शामिल किया गया था जिसमें सिसवां बाजार की करतूतें विशेष रूप से शामिल थीं।

इस प्रकार के शोषण, अत्याचार तथा गरीबी के प्रत्यक्ष दर्शन और निजी अनुभूतियों ने आचार्य नरेन्द्रदेव की समाजवादी विचारधारा को न केवल और भी अधिक दृढ़ किया वरन् भारतीय परिवेश में उसको कार्यान्वित करने की दृष्टि भी दी।

आचार्यजी के समाजवाद को लेकर उनके साथियों, अनुयायियों और शोधकर्ताओं ने बहुत कुछ लिखा है और वह ठीक भी होगा। ऐसे लोगों की मान्यताओं का खंडन-मंडन उनके जीवन चरित्र को लिखते समय अभीष्ट नहीं है। नरेन्द्रदेवजी ने स्वयं भी समय-समय पर समाजवादी, साम्यवाद, जो दूसरे शब्दों में समष्टिवाद भी कहा जाता है, जनतंत्र या लोकतंत्र आदि सम्प्रदायों, सिद्धांतों और मतवादों पर विचार व्यक्त किया है, परंतु उनके विचारों को प्रस्तुत करने से पूर्व उनके विषय में जो धारणाएं उनके सह-

योगियों, मित्रों और शोधकर्ताओं की बन चुकी हैं, उनका जिक्र भी आवश्यक जान पड़ता है। इस सम्बध मे एक विशेष बात की ओर भी ध्यान देना चाहिए। उनके निधन के पश्चात्, 'सघर्ष' जो उन्ही द्वारा संस्थापित पत्रिका थी, उसका एक विशेषांक निकला। इसी प्रकार डा० केसकर और बी० के० एन० मेनन द्वारा सम्पादित नेशनल बुक ट्रस्ट से एक स्मृति ग्रंथ भी निकला। उन दोनों मे उन्हे निकट से जानने वाले उनके सहयोगियों और मित्रो के लेख प्रकाशित हुए। यह स्वाभाविक था कि ऐसे अवसर पर प्रायः श्रद्धासुमन ही चढ़ाए जाते हैं और विश्लेषणात्मक लेख कम ही लिखे जाते हैं। फिर भी इन सग्रहों में उनके कुछ मित्रो और निकट सहयोगियों के विचार द्रष्टव्य हैं। यह भी उपेक्षणीय नही कि इन लोगो ने आचार्यजी पर अपने उद्गार व्यक्त करते समय उनकी किन्ही मान्यताओं पर ही अधिक बल दिया हो। ऐसे मित्रो मे, जिन लोगो के विचारो को सामने रखना जरूरी है, उनमें श्री हीरालाल खन्ना, डा० केसकर, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, अशोक मेहता, एन० जी० गोरे, यूसुफ मेहर पाली, श्रीप्रकाश, अच्युत पटवर्धन, गगाशरण सिंह, सम्पूर्णानद, डी० पी० मुकर्जी, दामोदरस्वरूप सेठ, अजय घोष, और शकुंतला श्रीवास्तव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रो० मुकुट बिहारीलालजी ने तो आचार्यजी के व्यक्तित्व और नेतृत्व पर एक पूरी पुस्तक ही लिखी है। अतः उनके विचारों का जिक्र अलग से करना होगा।

हीरालालजी नरेन्द्रदेवजी के बचपन के साथियों में से थे। वह दोनों एक दूसरे को प्रायः सात-आठ वर्ष की उम्र से ही जानने लगे थे और धीरे-धीरे उनकी मित्रता प्रगाढ होती गई, जो जीवनपर्यन्त बनी रही। हीरालालजी नरेन्द्रदेवजी के सम्बंध में लिखते हुए कहते हैं कि बैंकाक मे, जहा वह समाजवादी पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में गए थे, नरेन्द्रदेवजी ने समाजवाद मे अपने दृढ विश्वास की घोषणा करते हुए कहा था कि समाजवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विश्व के सभी समाजवादियो का एक अंतर्राष्ट्रीय सघटन होना चाहिए जिसमे अमरीका और रूस को स्थान न हो। यहां रूस और अमरीका को अलग रखकर समाजवाद की बात की गई, यह स्मरण रखने की बात है। डा० केसकर कहते हैं कि गांधीजी 1928-29 के आसपास खादी प्रचार के सम्बंध मे काशी आए और नरेन्द्रदेवजी से, जो उन दिनो काशी विद्यापीठ में आ चुके थे, बहुत प्रभावित हुए थे। वापस जाकर उन्होंने नरेन्द्रदेवजी को

गुजरात विद्यापीठ के समावर्तन समारोह में भाषण के लिए आमंत्रित किया। गांधीजी उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहते थे। यदि कांग्रेस में समाजवाद के विरोधियों का बाहुल्य न होता, तो नरेन्द्रदेवजी कम-से-कम दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर चुके होते। गांधीजी के वह अत्यंत प्रिय थे। गांधीजी नरेन्द्रदेव के अत्यंत श्रद्धास्पद नेता थे। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी के विचार में वह एक क्रांतिदर्शी पुरुष थे। मानव समाज के विकास का उनका अध्ययन बहुत गहन था। वह मार्क्सवाद में विश्वास रखते थे। किन्तु उनके लिए समाजवाद केवल एक विश्वास की वस्तु न रहकर जीवन की प्रक्रिया थी। जनक्रांति के लिए एक व्यावहारिक मार्ग था। उन दिनों जब विरले ही साम्यवाद और समाजवाद के तात्विक भेद को समझ पाते थे, या कि यह समझ पाने में समर्थ थे कि वर्ग संघर्ष बिना हिंसा के भी हो सकता है, और समाजवाद की स्थापना के लिए तानाशाही की बिलकुल भी जरूरत नहीं, नरेन्द्रदेवजी साम्यवाद और समाजवाद के मौलिक भेद को भी समझते थे और विश्वास करते थे कि वर्ग-संघर्ष के लिए हिंसात्मक प्रक्रिया अनिवार्य नहीं है और तानाशाही के तो वह पूर्ण विरोधी थे। आचार्यजी ने मार्क्स के सिद्धांतों की नई व्याख्या की और मार्क्सवाद और समाजवाद को भारतीय संदर्भ में पारिभाषित किया। द्विवेदीजी आगे कहते कि अपनी एक पुस्तक में आचार्यजी ने भारत में जनतांत्रिक समाजवाद की क्या भूमिका होगी, उसे भी स्पष्ट किया। अशोक मेहता उनके अन्यतम समाजवादी सहयोगियों में से थे। उन्होंने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते समय आचार्यजी की कुछ चारित्रिक विशेषताओं का जिक्र किया है। यद्यपि उन विशेषताओं के उल्लेख में इस बात की चर्चा नहीं है कि वह मार्क्सवादी थे, तथापि इसका यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि वह मार्क्सवादी नहीं थे। अशोक मेहता ने उनके मार्क्सवादी होने या न होने का जिक्र न करते हुए भी जिन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उनसे आचार्य नरेन्द्रदेव के जीवन चरित्र, उनके विश्वासों और मतों के बारे में स्वतंत्र राय कायम करने में सहायता मिल सकती है; अतः यहां उनका उल्लेख किया जा रहा है। श्री मेहता कहते हैं कि प्रोफेसर रेडसमैन के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति दो अलग-अलग स्तरों पर जीवन व्यतीत करता है और जहां यह दोनों स्तर अभेद हो जाते हैं, एकत्व को प्राप्त करते हैं, वहीं आदर्श जीवन का उद्‌भव होता है। नरेन्द्रदेवजी उनके अनुसार, इस एकत्व को प्राप्त कर चुके थे। वह नैतिक सिद्धांतों के पालन में अविचलित रहते थे।

वह कभी भी जन राजनीति के स्तर पर नहीं उतरे, बल्कि उन्होने जन-जन को जीवन का आदर्श समझाने तथा उनके बौद्धिक धरातल को वृहत्तर करने के लिए और उन्हे ऊपर उठाने के लिए सतत् प्रयत्न किया। वह सदा स्वतंत्रता, एकता और बंधुत्व के लिए लडते रहे। उनको विश्वास था कि जीवन का मूल केन्द्र मनुष्य ही है और यही कारण था कि उनके द्वारा प्रतिपादित समाजवाद जनतांत्रिक और मानवतावादी था। इस सिलसिले में उनके प्रशसक और बौद्धिक मित्र, प्रो० डी० पी० मुखर्जी के विचार भी द्रष्टव्य हैं। प्रो० मुखर्जी एक स्थान पर कहते हैं कि उन्होंने अपनी पार्टी की लाल टोपी के लिए गाधी टोपी को नही छोड़ा। उस समय भी नही, जब वह किसान मार्च की अगुवाई कर रहे थे। वह परम्पराओ को नही छोड़ सके। गांधीजी ने उनके ढांचे में स्वय को निर्मित किया था और उनकी विचारधारा की गति पर उन्होने प्रभाव डाला था। उन्ही पर लिखते हुए वह आगे कहते है कि वह मार्क्सवाद की माला नही जपते थे क्योकि यह उनके लिए विचार से कुछ अधिक था। प्रो० मुखर्जी के अनुसार वह मार्क्सवादी से अधिक लेनिनवादी थे। और फिर भी वह स्तालिनवादी नही थे। कम्युनिस्टों से भिन्न वह मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन को उचित ऐतिहासिक संदर्भ में उद्धृत कर सकते थे। प्रो० मुखर्जी भी उनके मानवतावाद से परिचित जान पडते है। वह कहते हैं "वे मानव थे। सम्भवतः पूरे मानव। क्या यह मानवतावाद था जिसने उन्हे अतिमानव, कठोर देवता होने से बचाया? परंतु तब वह वर्ग-सघर्ष में अपने विश्वास की सगति कैसे बिठाते थे। या क्या इन दोनों मे कोई निहित विरोधाभास है ही नही, यही मेरा प्रश्न है।"

अब हम प्रो० मुकुट बिहारीलालजी के विचारो को थोड़ा विस्तार से देखना चाहेगे क्योंकि उन्होंने आचार्यजी के साथ रहकर उनके विचारो को निकट से देखा और परखा था। वह स्वय भी मार्क्सवादी थे, साथ ही प्राध्यापक भी। उनसे ऐसी आशा की जानी चाहिए कि उन्होंने आचार्यजी के मतों और विचारो की तटस्थ रूप से व्याख्या की होगी। यदि नहीं तो यह पाठको के निर्णय का विषय होगा।

श्री मुकुट बिहारीलाल की राय मे आचार्यजी मार्क्स और एंगेल्स के सामाजिक विश्लेषण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को मूलतः स्वीकार करते थे। पर वह मार्क्सवाद के भौतिक तत्वों के साथ-साथ उनके

मानवीय तत्वो पर भी जोर देते थे। वह मार्क्स के इस सिद्धांत को मानते थे कि उत्पादक शक्तियो के विकास के अनुरूप सम्बंध कायम होते हैं, उत्पादक सम्बधों को जोड़कर समाज का आर्थिक ढांचा बनता है और आर्थिक ढाचे के आधार पर राजनीतिक और सास्कृतिक दीवार खड़ी होती है। वह मार्क्स के इस सिद्धांत को भी मानते थे कि किसी विशेष परिस्थिति मे किसी विशेष प्रकार के सिद्धांतो का प्रतिपादन करने वाले महापुरुष स्वय बदली हुई परिस्थितियो के परिणाम होते है और सिद्धांत भी समाज में इसलिए स्वीकार किया जाता है कि वह नई परिस्थिति के अनुकूल होता है। वह यह भी स्वीकार करते थे कि किसी समाज की विचार प्रणालियो मे अर्थात प्रचलित दर्शन, धर्म, राजनीति आदि मे उस समय आधारभूत परिवर्तन होता है, जब समाज की रचना मे आधारभूत परिवर्तन होता है। पर वह यह भी मानते थे और जोर देते थे कि मनुष्य और परिस्थिति दोनो परिवर्तनशील और अस्थिर हैं और जिस प्रकार मनुष्य परिस्थिति को बनाता है, उसी प्रकार परिस्थितियां मनुष्य को बनाती हैं और कानूनी और राजनीतिक संस्थाएं, आर्थिक ढाचे का परिणाम होते हुए भी स्वतत्र शक्तिया बन जाती हैं और इतिहास की गतिविधि को प्रभावित करती हैं। मुकुट बिहारीलालजी के अनुसार आचार्यजी की राय मे, ऐतिहासिक विकास में अनेक कारण काम करते हैं। प्रो० लाल के अनुसार आचार्यजी मानते थे कि नई सामाजिक व्यवस्था को कायम करने के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थिति और प्रगति के साथ-साथ मनुष्यो का सचेष्ट प्रयत्न भी जरूरी होता है। वह लेनिन की इस बात को ठीक समझते थे कि क्राति के लिए क्रातिकारी परिस्थिति और क्रातिकारी प्रयत्न दोनो ही आवश्यक हैं। उनकी धारणा थी कि क्रांति स्वतः सफल नही होती। क्रांति का संगठन सुदृढ़ होने से ही और क्रांति के सचालकों की दृष्टि स्पष्ट तथा रचनात्मक होने से ही क्रांति सफल होती है। वह मार्क्सवाद के वर्गीय विश्लेषण को मूलत: स्वीकार करते थे और वर्गहीन समाज को कायम करने के लिए वर्ग-संघर्ष अनिवार्य समझते थे। वह वर्ग सहयोग के अस्तित्व को भी स्वीकार करते थे और मानते थे कि विभिन्न वर्गों के हितो में सघर्ष होते हुए भी समाज के अस्तित्व के लिए किसी हद तक वर्ग सहयोग अनिवार्य है। इसके बिना तो समाज छिन्न-भिन्न हो जाएगा। पर वह वर्ग-संघर्ष को वर्ग-समाज का अनिवार्य घटनाक्रम मानते थे। इस तरह शोषितों का वर्ग-संघर्ष सामाजिक

क्रांति का मुख्य उपकरण तथा समाजवादी वर्गहीन समाज की स्थापना का आवश्यक साधन है।

"शोषितो के वर्ग-संघर्ष का समर्थन करते हुए नरेन्द्रदेवजी कहते थे कि वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक क्रांति का आधार रहा है। समाजवादी लोग वर्ग-संघर्ष को पैदा नहीं करते और न वे उसको पसंद करते हैं। उनका उद्देश्य तो समाज का ऐसा संगठन करना होता है जिसमें परस्पर विरोधी वर्गों और उनमें निरंतर चलने वाले संघर्षों का अंत हो जाए।" ऐसा लगता है कि प्रो० लाल कहना यह चाहते थे कि बावजूद इस बात को मानने के कि वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक क्रांति का आधार रहा है, आचार्यजी वस्तुतः यह मानते थे कि समाजवादी लोग वर्ग-संघर्ष को पैदा नहीं करते और न वह उसको पसंद ही करते हैं। उनका उद्देश्य तो समाज का ऐसा संगठन करना है, जिसमे परस्पर विरोधी वर्गों और उनमे निरंतर चलने वाले संघर्षों का अंत हो जाए।"

प्रो० लाल भी नरेन्द्रदेवजी को लेनिन के कतिपय विश्वासो का समर्थक बताते हुए कहते हैं कि लेनिन की तरह वह इस बात पर जोर देते थे कि केवल मजदूरों के बलबूते पर समाजवादी क्रांति सम्भव नहीं, उसके लिए तो मध्यम श्रेणी के शिक्षितों का क्रांतिकारी समाजवादी नेतृत्व भी आवश्यक है। नरेन्द्रदेवजी का कहना था कि मार्क्सवादियों के अनुसार क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना क्रांतिकारी आंदोलन नहीं हो सकता और समाजवाद के दर्शन की सृष्टि तथा उसका विकास विद्वानों और चिन्तकों द्वारा ही होता है। आने वाले समाज की भविष्यवाणी उनके द्वारा ही होती है। इस तरह निम्न मध्यम वर्गीय क्रांतिकारी विचारक ही समाजवादी क्रांति के आध्यात्मिक साधक हैं।

लेनिन से सामीप्य दिखाते हुए प्रो० लाल आगे लिखते हैं कि आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार में जहां समाज में मौलिक परिवर्तन होना और राज्य शक्ति का एक वर्ग के हाथ से निकलकर दूसरे वर्ग के हाथ में जाना ही क्रांति है, वहां ऐसे वर्गहीन समाज की रचना करना, जिसमे न कोई शासक है और न कोई शासित, सामाजिक क्रांति का लक्ष्य है। "लेनिन की तरह आचार्य नरेन्द्रदेव भी आतंक और षड्यंत्र को क्रांति का अंग नहीं मानते थे। वह जनतांत्रिक उपायों के अभाव में क्रांति के लिए संगठित सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते थे, पर हर परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति को आवश्यक और लाभप्रद नहीं समझते थे। आचार्यजी की धारणा थी कि इस देश मे समाजवादियों का कर्तव्य है कि वे जनतंत्र विरोधी भावनाओं और शक्तियों से जनतंत्र की रक्षा करें, जन-

तांत्रिक सिद्धांतों के प्रति जनता की श्रद्धा को दृढ़ करें, राजनीतिक जनतंत्र को सबल बनाएं और जनतांत्रिक ढंग से समाजवादी क्रांति को सफल करें तथा समाजवादी समाज स्थापित करें।"

मार्क्सवाद और नरेन्द्रदेवजी के विचारों में साम्य था और असहमति भी थी। प्रो० लाल एक जगह लिखते हैं, "उनका विचार था कि स्तालिन के अधिनायकत्व में सोवियत और अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म दोनों पथभ्रष्ट हो गए है। नरेन्द्रदेवजी रूस में प्रचलित तानाशाही और सर्वसत्तावाद के कट्टर विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि टोटेलिटेरियनिज्म आतंक पैदा करता है और मनुष्य को राज्य की मशीन का पुर्जा बना देता है। वह मानव के मान को नष्ट करता है और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं देता। नरेन्द्रदेवजी स्तालिनशाही की मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मजदूरों की तानाशाही मानने को तैयार नहीं थे। आचार्यजी के विचार में सर्वहारा की तानाशाही की कल्पना मार्क्स ने उन देशों के लिए की थी, जहां पर पूंजीपति वर्ग अपनी विरोधी शक्तियों के खिलाफ तुरंत राज्य की सारी सैनिक शक्ति लाकर खड़ा कर सकता था।" नरेन्द्रदेवजी समाजवादी और कम्युनिस्ट शक्तियों के अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का समर्थन करने को तैयार थे। पर वह अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के नाम पर सोवियत रूस को हिन्दुस्तान के मजदूरों की पितृभूमि मानना और संसार भर की कम्युनिस्ट पार्टियों पर सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व लादना गलत समझते थे। वह समता के आधार पर स्वतंत्र सहयोग को ही ठीक समझते थे। अंत में निष्कर्ष रूप में प्रो० लाल लिखते हैं, "इन सब बातों से साफ जाहिर होता है कि आचार्यजी मार्क्सवादी थे पर उनका मार्क्सवाद रूसी कम्युनिज्म और कट्टरता का सहचर नहीं था। वह हर दर्शन की तरह मार्क्सवादी दर्शन को भी विकासशील मानते थे और स्वयं उन्होंने उसके विकास में योगदान किया था। एक तो उन्होंने उदात्त राष्ट्रीयता और समाजवाद के समन्वय पर जोर देकर और उत्तरदायी व्यापक राष्ट्रीयता को समाजवाद का अंग बनाकर मार्क्सवाद की एक बड़ी समस्या का समाधान किया। दूसरे, उन्होंने कृषि क्रांति और समाजवादी क्रांति के योग पर जोर देकर और समाजवादी क्रांति के लिए मजदूरों और किसानों के संयुक्त मोर्चों की जरूरत बताकर तथा समता के आधार पर किसानों और मजदूरों के पारस्परिक सम्बंध कायम करने का पाठ

पढ़ाकर मार्क्सवाद की दूसरी बड़ी समस्या का समाधान किया। तीसरे, सहकारिता और समूहीकरण का मौलिक भेद बताकर और सहकारिता को समाजवादी व्यवस्था का अंग बताकर, उसके आधार पर किसानों की स्वेच्छा द्वारा ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था के निर्माण पर उन्होंने जोर दिया और इस तरह समूहीकरण के कारण समाजवाद के विरुद्ध किसानों के संघर्ष को शांत करने का उन्होंने योग बनाया। चौथे, उन्होंने जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, औद्योगिक जनतन्त्र और अर्थ स्वतन्त्र कारपोरेशनों द्वारा समाजीकृत उद्योगों की व्यवस्था के सिद्धांतों का मार्क्सवाद में प्रवेश कर उसे व्यापक और जनतान्त्रिक रूप प्रदान किया और जनतान्त्रिक केन्द्रवाद के सर्वसत्तावाद और केन्द्रित नौकरवाद से उसकी रक्षा की। पांचवें, जनतन्त्र और समाजवाद की असंगति की धारणा का विरोध करके, जनतन्त्र की प्रेरणा को मानव प्रकृति का भाग बताकर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मानवीय अधिकारों की प्रधानता स्वीकार करके, आर्थिक जनतन्त्र और राजनीति के जनतन्त्र के सम्बंध को स्थापित कर जनतन्त्र में विरोधी दल के महत्व को स्वीकार करके, जनतान्त्रिक राज्य में जनतान्त्रिक भावनाओं को जागृत, सुदृढ़ और व्यापक बताते हुए जनतान्त्रिक उपायों से, जिसमें सत्याग्रह और हड़ताल भी शामिल है, समाजवादी समाज बनाने पर जोर देकर उन्होंने मार्क्सवाद के जनतांत्रिक स्वरूप को निखारा और पुष्ट किया तथा उसे व्यक्ति पूजा और पार्टी डिक्टेटरशिप द्वारा विकृत किए जाने से बचाया। छठे, व्यक्ति की क्रियाशील शक्ति पर जोर देकर तथा यह बताकर कि व्यक्ति प्रकृति पर सक्रिय प्रतिक्रिया करता है, परिस्थितियों की सम्भावनाओं के आधार पर परिस्थितियों को बदलता है, प्रकृति को बदलता है, अपने स्वभाव को बदलता है, अपनी शक्ति का विकास करता है। उन्होंने मार्क्स के अनियतिवादी तत्व को पुष्ट किया और उसके मनोविज्ञान की कमी को पूरा करने की तरफ कदम बढ़ाया। सातवें, दीर्घकालीन नैतिक मूल्यों का और सामान्य शील का पालन मार्क्सवादियों के लिए भी जरूरी बताकर मानवता को मार्क्सवाद का आधार स्वीकार कर और मार्क्सवादी समाज के नैतिक मूल्यों का विश्लेषण कर मार्क्सवाद के नैतिक स्वरूप को पुष्ट किया और उसके नैतिक भंडार को परिपूर्ण किया। आठवें, समाजवादी संस्कृति के कतिपय मूल तत्वों की व्याख्या का और उसे समाजवादी समाज के निर्माण का महत्वपूर्ण अंग बनाकर उन्होंने मार्क्सवाद के सांस्कृतिक लक्ष्य की अभिवृद्धि की।"

इस आठ प्रकार के योगदान की चर्चा कर चुकने के बाद प्रो० लाल लिखते हैं कि आचार्यजी का कहना था, "मार्क्सवाद कोई अटल सिद्धांत नहीं है। जीवन की गति के साथ वह भी बदलता है। इसकी विशेषता इसका क्रांतिकारी होना है। मार्क्स की शिक्षा मे हेर-फेर करना उस समय तक अनुचित नहीं है, जब तक आप इस परिवर्तन से उसके क्रांतिकारी तत्व को सुरक्षित रखते हैं। मार्क्सवाद को एक जिन्दा शास्त्र मानने मे ही उसका गौरव है।" अपनी तरफ से प्रो० लाल इतना जोड़कर इस संदर्भ की अपनी बात समाप्त करते हैं कि "वास्तव मे नरेन्द्रदेवजी का यह योगदान मार्क्सवाद के मानवतावादी और जनतांत्रिक तत्वों का पोषक है तथा उसके अंतरात्मा के अनुरूप है जो मार्क्स की चिन्तनधारा में निहित है।"

इसके पहले कि नरेन्द्रदेवजी के समाजवाद के विषय मे और कुछ लिखा जाए, यहां इतना ही इंगित करना आवश्यक है कि प्रो० मुकुट बिहारीलालजी के मत और निष्कर्षों का समुचित आदर और विश्वास करते हुए भी कुछ उसी प्रकार की शंकाएं बनी रह जाती हैं, जो प्रो० डी० पी० मुखर्जी के समाजवादी होते हुए भी उनके मन मे आचार्यजी के मानवतावाद और वर्ग-संघर्ष की बात को लेकर उठी थी। प्रो० मुकुट बिहारीलालजी के समाधानों मे भी ऐसे ही कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं और विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा करते है। आचार्यजी के विषय मे यह सोचना कि वह कोई-कोई काम दिखावे के लिए या रूढ़िग्रस्त समाज के डर से करते रहते थे, उनका अपमान करना होगा। उन्होंने अपने जीवन मे दृढ़ निश्चय और तर्कसम्मत सिद्धांतो पर अटल रहने के अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत किए। हम पहले के अध्यायो में उनके व्यक्तित्व की पहचान कर चुके हैं। अत. यही मानना उचित होगा कि वह जो भी करते थे, उसके पीछे उनका विश्वास और उनकी निष्ठा होती थी और उसे वह अपने जीवन का ही नहीं बल्कि समाज का आदर्श मानते रहे थे। यदि वह स्वतंत्र चेता दार्शनिक न होते, यदि वह बहुपठित मननशील बौद्धिक न होते, यदि उनमे भारतीय संस्कृति और सभ्यता की विचारधाराएं उनके अपने चिन्तन और तर्क की कसौटी पर खरी न उतरी होतीं, और वह केवल शुद्ध मार्क्सवादी होते तो न तो वह अपने लड़के का विधिपूर्वक यज्ञोपवीत कराकर श्रीप्रकाशजी से मंत्र की दीक्षा दिलाते और न ही श्रीप्रकाशजी के पुत्र के उपनयन संस्कार मे जाकर उनके लड़के को गायत्री मंत्र की दीक्षा देते। यह भी नहीं माना

जा सकता कि चूंकि उन्होंने श्रीप्रकाशजी के लड़के को दीक्षा दी थी, अतः उनका प्रत्युपकार करने के लिए अपने लडके का उपनयन उन्होंने किया। यह भी नहीं कहा जा सकता कि तब तक इस कृत्य के होने तक वह दृढ मार्क्स-वादी नहीं हुए थे। अगर ऐसा मान भी लिया जाए, जबकि तथ्य यह नहीं था तो भी तब तक बौद्ध दर्शन का उनका गहन अध्ययन और मनन हो चुका था। श्रमण संस्कृति को वह बडे आदर से देखते थे और कहीं गहरे में उसे अपने भीतर उतार भी चुके थे। अतः यदि उनमे उपनयन संस्कार के प्रति नहीं, तो उसके कर्मकाड के प्रति अनास्था जग चुकी थी। यदि इसे भी छोड़ दे तो भी उनके विचारो मे वर्ग-व्यवस्था की गिरी हुई अवस्था और उसके रूढिगत विचारो से उनका विद्रोह स्पष्ट हो चुका था। ऐसा होने मे उनके ऊपर अपने देश के इतिहास और दर्शन के अध्ययन का, आर्य समाज और गांधीजी के विचारो का प्रभाव स्पष्ट रूप से मिलता है। वर्णाश्रम के प्रति आस्था के लिए, भले ही वह पर्याप्त सुधारों के साथ नए रूप से व्याख्यायित क्यो न की गई हो—मार्क्सवाद मे कोई जगह नहीं है। सच्चा मार्क्सवादी जो केवल आयातित विचारो के आधार पर अपना मतवाद स्थिर कर रहा होता है, इस प्रकार का आचरण कभी भी नही करेगा। तब क्या वह वर्ण-व्यवस्था मे विश्वास रखते थे? इसका उत्तर वह स्वयं थे। वह वर्ण व्यवस्था को ऐतिहासिक घटनाक्रम से अधिक कुछ नही मानते थे। भारतीय इतिहास और सस्कृति के गहन अध्ययन से उनमें उसके प्रति किसी समय-विशेष मे आदर का भाव जरूर बनाया था, पर वही व्यवस्था उनके लिए उनके समय मे अप्रासंगिक और सामाजिक विकास की विरोधी हो चुकी थी। वह कहते हैं "प्राचीन भारत में वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। इसकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य था। सामाजिक संगठन मे राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता था। समाज वर्गों मे विभक्त था। प्रत्येक वर्ण की जीविका नियत थी, समाजिक नियंत्रण कुछ बातों में कठोर था। खान-पान विवाह सम्बध और जीविका के विषय में कठोर नियंत्रण था। किन्तु विचार की स्वतंत्रता थी। आप चाहे ईश्वर के अस्तित्व को माने या न माने अथवा आपका धर्म वेदानुकूल हो या न हो, आप समाज से बहिष्कृत नही हो सकते। किन्तु जिस काल में प्रतिलोम विवाह मना था, उस काल मे प्रतिलोम विवाह करने पर समाज से पृथक होना पड़ता था और जिस काल में केवल सवर्ण विवाह की ही अनुज्ञा थी उस काल में असवर्ण विवाह करने पर समाज से अलग होना

पडता था। इसी प्रकार अन्त्यज अपनी जाति के रिवाज से बंधे थे। जो अधिकार द्विजो को प्राप्त था वह शूद्रों और दूसरे लोगो को नही था।" इस ऐतिहासिक तथ्य को स्पष्ट करने के बाद वह अपनी स्पष्ट राय व्यक्त करते हैं और कहते हैं कि आजीविका के कुलागत होने के कारण और प्रत्येक वर्ग की आजीविका नियत होने के कारण स्वाभाविक विकास मे रुकावट होती है। किन्तु जो सन्यास ग्रहण करता था और घर-बार छोड़कर आध्यात्मिक चिन्तन मे लगता था, उसके लिए सामाजिक नियम नही थे। श्रमण सब कोई हो सकते थे और नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए सभी प्रयत्नशील हो सकते थे। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। उपनिषदों की इस उक्ति में उनका विश्वास था कि 'मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नही।' पर वह मनुष्य के वैयक्तिक विकास मे धर्माचरण की भारतीय आधारशिला को हिलाना नहीं चाहते थे। उसमे उनका विश्वास था। धर्माचरण का उत्कर्ष और विकास वह चार आश्रमो में देखते थे। इस आश्रम व्यवस्था के पहले चरण में उपनयन संस्कार के महत्व को वह मानते थे। भारतीय विचारधाराओं का जो बहुविध विकास हुआ था, उसमें व्यक्ति का पूरा जीवन सतत् विकासशील था। इस प्रक्रिया मे वह सदा एक के बाद दूसरी भूमिका मे प्रवेश करता रहता था। दीक्षित होता रहता था। यह दीक्षा ही उसमें वह संस्कार उत्पन्न करती थी, जो उसे समाज को व्यवस्थित रखने और धर्म को धारण करने की शक्ति प्रदान करता था। नैतिक व्यवस्था की स्थापना भारतीय संस्कृति की एक बहुत बडी विशेषता थी। उस पर विश्वास दृढ करते हुए वह कहते हैं, "जीवन के सफल संचालन और स्वस्थ विकास के लिए एक-न-एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था आवश्यक है। कर्म फल मे विश्वास प्रकटकर मानवीय कर्म को सहज ही महान लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्रतिष्ठा हुई है। मोक्ष को हमारे यहां सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष से तात्पर्य मनुष्य की आध्यात्मिक और बौद्धिक मुक्ति से है। योग के बिना कोई मोक्ष नही प्राप्त कर सकता। योग से तात्पर्य मन की समाहित अवस्था और प्रवृत्तियों पर नियंत्रण से है। हमारे यहा के सभी सम्प्रदाय, चाहे वे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, इस विचार-सरणि पर एक मत है। उन सबका गंतव्य एक ही है—मानव की मुक्ति। कर्म फल की वासना न रखते हुए और शुभ कर्म करते हुए मोक्ष की ओर निरंतर बढ़ते जाना यही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है।" यही कारण था कि वह मार्क्स के उन विचारों को

अक्सर चर्चा करते पाए गए, जिन्हें वह समाजवाद का आवश्यक अंग मानते थे। वह मार्क्सवाद के नैतिक और सांस्कृतिक तत्वों पर अधिक जोर देते थे और मार्क्स की उस उक्ति को अक्सर उद्धृत करते थे, जहां उन्होंने कहा है कि सर्वहारा मजदूरों को प्रतिदिन के भोजन की अपेक्षा आत्मविश्वास, स्वाभिमान और स्वतंत्रता की कहीं अधिक जरूरत है। 'आचार्यजी का समाजवाद' एक बड़ा नैतिक और सांस्कृतिक आंदोलन था। मार्क्सवाद के इस तत्व पर विशेष ध्यान देते हुए वह मार्क्स को 'अपने युग का महान मानवतावादी' मानते थे। उनके विचार में मार्क्स की विचार-सरिणी का मुख्य विषय मानव था। मार्क्स की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि मानव सर्वोपरि है। जो सिद्धांत, वाद या विचार—चाहे वह कोई धर्म हो या दर्शन या अर्थशास्त्र, मानव के उत्कर्ष को घटाता है, वह मार्क्स को मान्य नहीं है। नरेन्द्रदेवजी को भी मानव का अपकर्ष मान्य नहीं था। वह भी उसके उत्कर्ष में ही समाज का उत्कर्ष देखते थे। चार आश्रम मानव के उत्कर्ष की चार मंजिली इमारत थी। अपने जीवन दर्शन को स्पष्ट करते हुए, वह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने में ध्येय है और उसे स्वयं के लिए अपने दृष्टिकोण से पूर्ण एवं संतोषदायक मार्ग की खोज अवश्य करनी चाहिए।

इतने विचार मंथन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नरेन्द्रदेवजी मूलतः स्वतंत्रचेता विचारक और बौद्धिक थे। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के प्राचीन और अर्वाचीन सभी विचारों पर गहराई से मनन किया था और अपने समय तक के प्रतिपादित सभी प्रमुख दर्शनों का अध्ययन किया था। उनमें वैचारिक संकोच या पूर्वाग्रह नहीं था। अपने चिन्तन के आधार पर वह अपने स्वतंत्र विचार रखने वाले बौद्धिक थे। यह दुर्भाग्य की बात है कि उन्होंने समाजवाद पर, उस जनतान्त्रिक समाजवाद पर, जिसके वह व्याख्याता और प्रतिष्ठापक थे, कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी। लिख नहीं सके। उन्हें लिखने का समय ही नहीं दिया गया। यदि ऐसा कर सके होते तो वह संसार के लिए एक अमूल्य निधि छोड़ गए होते जो मानवता के कल्याण के लिए एक सुविचारित मार्ग प्रशस्त करती। इसलिए कि वह एक क्रांतिदर्शी बौद्धिक थे। नरेन्द्रदेव के मित्र, सहयोगी और समान विचारधर्मी, सम्पूर्णानंद ने एक जगह भारतीय बौद्धिकों के कर्तव्यों पर अपने विचार प्रकट करते हुए कुछ वाक्य कहे हैं। उन दो-तीन वाक्यों को यदि एक स्थान पर रख दिया जाए तो वे मिलकर

बौद्धिकता की अच्छी और सही परिभाषा बन जाते हैं। उनके वाक्यों का एकत्रित रूप इस प्रकार होगा। सम्पूर्णानंदजी कहते हैं कि "बुद्धिजीवी का सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि वह एक विद्रोही होता है, जो सत्ता के आगे झुकता नहीं। सच्चा बुद्धिजीवी आंख मूंदकर एक ओर को नही बढ़ सकता। वह परम्परागत नैतिकता का भक्त नही है। उसकी सहानुभूति व्यापक है।" नरेन्द्रदेव इस कसौटी पर खरे सोने के समान चमकते हैं। वह सभी दृष्टियों से सच्चे बौद्धिक थे। उन्होंने किसी भी मत को फैशन समझ कर नहीं, वरन् तर्क की कसौटी पर कसकर एवं सत्य प्रमाणित होने पर ही स्वीकार किया। ऐसा करते हुए भी वह अपने देश की आवश्यकता, उसकी आत्मा की पहचान को बराबर अपने सामने रखते रहे। वस्तुतः वह किसी के अनुयायी नही थे, वह नरेन्द्रदेव थे।

वर्गहीन समाज के लिए प्रयास

1917 में मालवीयजी द्वारा उत्तर प्रदेश मे (उस समय के सयुक्त प्रांत में) किसान सभा की स्थापना की गई थी। वह प्रांतीय स्तर पर उसके अध्यक्ष भी थे। होमरूल लीग की भी स्थापना हो चुकी थी और नरेन्द्रदेवजी होमरूल लीग की फैजाबाद शाखा के संस्थापक और मत्री थे। उद्योग की दृष्टि से उत्तर प्रदेश पिछड़ा हुआ प्रात था। कानपुर की कुछ मिलों और गोरखपुर में चीनी के कुछ कारखानों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में सामान्यतः ऐसा कुछ भी नही था जो मजदूरों की समस्या को प्रमुखता देता। यहा केवल किसानों की ही तादाद ज्यादा नही थी बल्कि यहा के जमींदार और ताल्लुकेदार भी अन्य प्रानों के जमीदारों के मुकाबले तादाद मे ज्यादा थे। इनमे भी ऐसे जमीदारों और ताल्लुकेदारो की तादाद ज्यादा थी, जो अपनी जमीदारी या रियासतो में न रहकर अपने ऐशो-आराम के लिए नगरों मे ही रहना अधिक पसद करते थे। इनकी जमींदारियो की देखभाल और प्रबध का प्रायः पूरा-का-पूरा भार इनके कर्मचारियों पर रहता था। वैसे भी वे मनमानी कर सकते थे, पर अपने मालिको के सदा उपस्थित न रहने पर, और बाहर से बराबर रुपयो की मांग आते रहने पर, इन्हें वह सब भी करने की छूट मिल जाती थी, जो किसी भी दशा मे मानवीय नहीं माना जा सकता था। इनका प्रबध भी बहुत हद तक मालिकों के हित मे ही होता था, अतः ज्यादतियों का होना या होते रहना एक आम बात हो गई थी। यहा तक कि ये ज्यादतियां कहीं-कही रिवाज का भी रूप ले चुकी थीं। इनमें कुछ सार्वभौम रूप भी ले रही थीं। बेगार प्रथा इनमे से एक उदाहरण हो सकता है। तत्कालीन सयुक्त प्रांत की कांग्रेस कमेटी ने किसानों की दशा का अध्ययन करने का निश्चय किया और सम्पूर्णानंदजी तथा नरेन्द्रदेवजी को यह कार्य सौंपा गया। फैजाबाद जिले के किसानो के बीच काम करते रहने के कारण इन्हें इसका अच्छा-खासा अनुभव था, फिर भी प्रांतीय कांग्रेस द्वारा सगठित कमेटी के सदस्य की हैसियत से इन्होंने पूरे प्रात का दौरा किया और अपनी रिपोर्ट भी प्रस्तुत की। अपने

इन अनुभवों और अध्ययन के बाद नरेन्द्रदेवजी का यह निश्चित मत बन गया था कि समय-समय पर किए जाने वाले कुछ सुधारों से किसानों की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। नरेन्द्रदेवजी के परिवार की अपनी जमींदारी भी थी और उसकी देखभाल इनके बड़े भाई महेन्द्रदेवजी ही करते थे। पर इनके विचार में यह संस्था अपनी उपयोगिता और प्रासंगिकता खो चुकी थी और इसके उन्मूलन में ही किसानों और जमींदारों की भलाई थी। यही इसका मूल और एकमात्र समाधान था। न केवल किसानों का आर्थिक विकास वरन् जमींदार परिवारों में घर कर गई जड़ता और अवनति से उनका छुटकारा भी इसी में निहित था। अतः नरेन्द्रदेवजी इसी विचार को पुष्ट करते रहते थे कि किसानों को संगठित करके उन्हें राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए तैयार करना चाहिए। बिना किसानों की मुक्ति के समाजवाद की स्थापना में उठाया गया हर कदम प्रतिगामी और छोटा पड़ता जाएगा। आजादी की लड़ाई में उनका सक्रिय सहयोग तो वह आवश्यक मानते ही थे, समाजवादी समाज की स्थापना में भी इसे वह परमावश्यक तत्व मानते थे। किसानों को संगठित करके आजादी की लड़ाई लड़ने में वह अधिक आशावान इसलिए भी थे कि इससे सामरिक लाभ तो था ही, बल्कि पूरे देश का सहयोग भी मिलता था। अंग्रेजी हुकूमत का हर गांव में पहुंचना और हर गांव के हर घर में पहुंचना मुश्किल हो सकता था पर यदि राजनीतिक चेतना और समाज के आर्थिक ढांचे के प्रति समाजवादी विचारों का प्रसार किसानों में सफलतापूर्वक घर कर जाए तो यह विशाल समुदाय एक विराट पुरुष के समान खड़ा होकर साम्राज्यवाद के राक्षस से अपनी लड़ाई सफलतापूर्वक लड़ सकता है।

इस काम में वह सहकारिता को अपना माध्यम बनाना चाहते थे। उनके विचार में सहकारिता आंदोलन चलाकर उसके माध्यम से किसानों को जनतंत्र की समझ और सहकारी समाज के आदर्श रूप की परिकल्पना आसानी से दी जा सकती थी। पर नरेन्द्रदेवजी जहां किसानों के हित-रक्षा के इतने बड़े समर्थक थे, वहीं वह अपने समकालीन नेताओं की उस विचारधारा के विरुद्ध भी थे, जो किसानवाद को प्रोत्साहन देने वाली थी। किसानवाद समाजवादी समाज की स्थापना में बाधक था क्योंकि उसकी दृष्टि बड़ी संकुचित थी। वह तो एक व्यापक धरातल पर उस वर्ग-संघर्ष को जगाना चाहते थे, जिसमें किसान और मजदूर मिलकर उस समाजवादी समाज की स्थापना कर सकें,

जिसका लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना हो। इसलिए वह चाहते थे कि कांग्रेस किसानों और मजदूरों की संस्थाओं को मान्यता देकर उनकी सामूहिक सदस्यता द्वारा उनका प्रतिनिधित्व कांग्रेस मे स्थापित कर इस कार्य मे सफलता प्राप्त करे। इस परिकल्पना को साकार रूप देने के लिए वह 1934 से ही प्रयत्नशील रहे। सन् 1936 में जब वह प्रांतीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा, "जनता के दैनिक जीवन के आर्थिक संघर्ष को साम्राज्य विरोधी संग्राम से सम्बद्ध करने से ही जनता राष्ट्रीय आंदोलन में सजीव भाग लेने को तैयार की जा सकती है।" पर कांग्रेस के माध्यम से इस काम मे उन्हे सफलता न मिल सकी। कांग्रेस उनके इन विचारो से मूलतः सहमत नही हो सकी, फिर भी कांग्रेस मे किसानो का प्रभाव बढता ही गया। इसके पीछे गांधीजी, नेहरूजी तथा कांग्रेस में जो समाजवादी विचारक थे, उनका और कुछ अन्य नेताओं का भी हाथ था।

कांग्रेस मे किसानो के प्रभाव के बढने का एक और भी महत्वपूर्ण कारण था। गांधीजी ने अपने नेतृत्व में स्वतन्त्रता संग्राम को जिस प्रकार चलाया तथा जैसी रणनीतियां अपनाई, उसमे किसान वर्ग ही नही बल्कि उन सभी गरीब तबके के लोगो का समावेश हो गया जो गरीबी से संतप्त होने के कारण शिक्षा-सुविधाओं से वंचित रह गए थे और जिन्हें बौद्धिक और सैद्धांतिक बातो की कोई समझ नहीं थी। भारत में ऐसा अपार जन-समूह था जो मुक्ति की छटपटाहट लिए जी रहा था, पर उसे कोई रास्ता नही सूझता था। ऐसे अपढ़ गरीबों को गांधीजी की सादगी, उनकी नैतिकता, उनका धर्माचरण और प्रत्यक्ष अपरिग्रह का व्यवहार बहुत आकृष्ट करता था। नरेन्द्रदेवजी ने गांधीजी के इन सभी गुणों को यथावत और यथासम्भव अपनाकर किसानो को शिक्षित करने के कार्यक्रम पर भी जोर दिया। वह स्पष्ट देख रहे थे कि बिना शिक्षा और साक्षरता के समाजवादी समाज की स्थापना करना बालू की भीति उठाना मात्र होगा। अशिक्षित और निरक्षर समाज सुदृढ़ नही हो सकेगा। वह संकट के समय टिक नहीं सकेगा, गिर जाएगा, ढह जाएगा। सविनय अवज्ञा आंदोलनों में जिस प्रकार विभिन्न प्रांतो के गरीब तबके के निरक्षर लोगों ने, जिनमे किसानों का ही बाहुल्य था, आगे बढ़कर इन आंदोलनों को सफल बनाने और जीवतता देने में काम किया, उससे इन नेताओं की आंखे खुल गईं। गांधीजी का करिश्मा तो था, पर नरेन्द्रदेवजी इसे

स्थायित्व देने और इस उत्साह के वातावरण को समाजवादी समाज की स्थापना की ओर सक्रिय रूप से मोड़ देने के लिए चिंतित रहते थे।

नरेन्द्रदेवजी की इस सक्रियता और उनकी दूरदर्शी विचारधारा ने किसानों को संकुचित किसानवाद से उबारकर उन समस्त जनशक्तियों के साथ, जो शोषित वर्ग में आती हैं, किसान आंदोलन में आगे लाकर खड़ा कर दिया। वह 1939 में अखिल भारतीय किसान सभा के गया अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। उन दिनों किसान सभा के मंत्री प्रो० एन० जी० रंगा थे। दोनों ही उग्र राष्ट्रवादी और स्वतंत्रता संग्राम के जाने-माने सेनानी बन चुके थे। सामंतशाही का विरोध और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन दोनों का ही प्रधान लक्ष्य बन चुका था। दोनों ही इस बात को मानते थे कि कांग्रेस और किसान संगठनों का सहयोग स्वतंत्रता संग्राम की सफलता के लिए आवश्यक है। अतः किसान सभा के कार्यक्रम को स्पष्ट करने में नरेन्द्रदेवजी को विशेष कठिनाई नहीं हुई। इस संदर्भ में बिहार के स्वामी सहजानंदजी का भी नाम नहीं भुलाया जा सकता। नरेन्द्रदेवजी ने इस अवसर पर अपने भाषण में यह स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रतीक बन चुकी है। वह साम्राज्य विरोधी संघर्ष की अगुआ है, अतः औपनिवेशिक शोषण और आधिपत्य से मुक्ति के लिए किसान संगठनों को कांग्रेस के साथ सहयोग करना जरूरी है। इसी के साथ उन्होंने कांग्रेस को भी कहा कि उसे किसानों और उनके संगठनों को एक राष्ट्रीय आधार देकर और उनका प्रतिनिधित्व प्राप्तकर देश की प्रगति को आगे बढ़ाने की बात सोचनी होगी। किसान सभा के माध्यम से उन्होंने जमींदारी उन्मूलन और उससे होने वाले अच्छे परिणामों की ओर संकेत किया तथा किसान आंदोलन को एक दूरदृष्टि के साथ ही नैतिक और आर्थिक आधार भी दिया। उनके साथ किसान आंदोलन में बहुत से समाजवादी विचारधारा के नए-पुराने कार्यकर्ता आगे आए और बाद में कुछ ने बहुत ही उपयोगी कार्य भी किया।

भारत में किसान आंदोलन की घुमावदार कहानी बड़ी लम्बी हो जाती है, यद्यपि अवधि की दृष्टि से उसे बहुत छोटा होना चाहिए था। कालांतर में उसमें कम्युनिस्ट प्रभाव कैसे पनपा और किस प्रकार कम्युनिस्टों ने उसे भीतर से छिन्न-भिन्न किया, यह सब वृत्तांत यहां अप्रासंगिक है। किन्तु नरेन्द्रदेवजी किसानों से अलग रहकर भारतीय समाजवाद की कल्पना नहीं कर पाते थे,

अत समय-समय पर उन्हें सगठित करने और मजदूरो के साथ मिलाकर राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित करते हुए उन्हे वर्ग-संघर्ष के लिए तैयार करने का उनका प्रमुख कार्यक्रम बराबर ही बना रहा। स्वामी सहजानंद ने 1946 मे जिस किसान संघ की स्थापना की थी, वही आगे चलकर किसानों और मजदूरो को साथ ले चलने के उद्देश्य से किसान पंचायत संगठन समिति के नाम से विकसित हुई और डा० राम मनोहर उसके अध्यक्ष हुए थे। सन् 1949 मे मार्च के महीने मे सोशलिस्ट पार्टी ने जो अपना अधिवेशन पटना में बुलाया और जिस अधिवेशन मे यह समिति बनी, उसके पहले ही उत्तर प्रदेश की किसान पंचायत का अधिवेशन नरेन्द्रदेवजी की अध्यक्षता मे कानपुर मे हो चुका था और उसमें नरेन्द्रदेवजी ने किसानों को संगठित होकर शोषणविहीन समाज बनाने की सलाह दी थी। सन् 1949 में ही सोशलिस्ट पार्टी और किसान पचायत के संयुक्त नेतृत्व में किसानो का एक विशाल प्रदर्शन लखनऊ में ही हुआ था। उन दिनो इस पुस्तक का लेखक लखनऊ में ही था और किसानों के उस नारे के विरुद्ध, जिसमें प्रदर्शनकारी कह रहे थे 'किसान जागा, पंत भागा', आचार्यजी का क्षोभ भी देख चुका था। आचार्यजी का संस्कार और शील इस प्रकार के अशोभन नारे बरदाश्त नही कर सका और उन्होंने उसे बंद करने का आदेश दिया था। पंतजी उस दिन लखनऊ के बाहर थे। यह जरूरी नही था कि वह उस प्रदर्शन से बचने या परिपत्र लेने से बचने के लिए बाहर गए हो। शासकीय कार्य से भी वह बाहर जा सकते थे। जो भी रहा हो, प्रदर्शन के बाद परिपत्र सचिवालय की भित्ति पर चिपका दिया गया था। वस्तुतः यह प्रदर्शन जमींदारी उन्मूलन समिति में, जिसके अध्यक्ष पंतजी थे, प्रस्तावित जमींदारो को दिए जाने वाले मुआवजे के विरुद्ध था। आचार्यजी जमींदारी उन्मूलन कोष की योजना के विरुद्ध थे और उनका विचार था कि जमींदारो को उस हिसाब से कोई मुआवजा न दिया जाए, जिस पर सरकार विचार कर रही थी। वह जोत की अधिकतम सीमा 30 एकड़ और कम-से-कम सीमा साढ़े बारह एकड़ के पक्ष मे थे। यह खेद का विषय है कि उन दिनो कांग्रेस के उद्घोषित आश्वासन को पूरा करने के उत्साह में और किसानो को कांग्रेस से अलगकर वर्ग-संघर्ष मे मजदूरों के साथ जोडने के जोश में इस बात पर किसी भी पक्ष ने ध्यान नही दिया कि जमींदारी उन्मूलन की रीति-नीति से और ग्रामवासी को किसान ही मानकर उसे जमीन दिलाने की मांग से देश के पर्यावरण का और उसके मूलाधार वनों का कितना और कितनी तेजी से

विनाश होगा। उस समय इस अहम मसले पर सोचने की किसी को भी फुरसत नही थी। किसानों पर होने वाले अत्याचारो की कहानियां तो बहुत लिखी गईं। इस सम्बध की कई जांच रिपोर्टें भी प्रस्तुत की गईं, पर जमींदारी उन्मूलन विधेयक के चलते जमींदारों को हरे-भरे फलदार बागो का रातों-रात सफाया करने का प्रोत्साहन कैसे मिला, इसकी छानबीन आज तक न हो सकी है। समाजवादी समाज की स्थापना में किसानो को अलगकर सफलता नही प्राप्त की जा सकती। इस सत्य की ओर बहुतों का ध्यान गया, पर बढ़ती हुई आबादी के आसार देखते हुए भी और यह जानते हुए भी कि मुगल शासनकाल से ही भारत की कृषि प्रायः जीविकोपार्जन और आहार का सहारा मात्र बन कर रह गई है, इस बात की ओर किसी ने भी गम्भीरतापूर्वक विचार नही किया कि भारतीय कृषि भूमि का क्षेत्रफल बिना बढ़ाए उसे उद्योग के रूप मे कैसे परिणत किया जाए, ताकि अधिक आबादी के बोझ से दबकर वह मृत-प्रायः न हो जाए और जो किसान नहीं है या हो नही सकता, उसके लिए समुचित उद्योगों की व्यवस्था कर उसे कारगर मजदूर बनाया जाए। नरेन्द्रदेवजी गावो मे सहकारी खेती पर जोर दे रहे थे, चौधरी चरणसिंह इसके घोर विरोधी थे। चूंकि वह शासन मे थे, उन्होंने इस सहकारिता का न केवल विरोध किया वरन् उत्तर प्रदेश में किसी भी सहकारी भावना को निर्मूल करने मे कारगर रहे। नरेन्द्रदेवजी की उस कल्पना को भी व्यवहारिक सम्बल नही मिला, जिसके द्वारा वह खेती की उपज और मिल से उत्पन्न उपभोग्य सामग्री की कीमतों में सदा संतुलन बनाए रखना चाहते थे। इस सम्बंध मे सम्पूर्णानंदजी की एक बात बहुत याद आती रहती है। वह अक्सर कहा करते थे कि अगर नरेन्द्रदेवजी और कुछ अन्य समाजवादी विचारक सविधान परिषद् मे, प्रादेशिक और केन्द्रीय शासन में बने रहते तो इस देश मे भी समाजवाद की नीव पड़ जाती, विचारों मे स्पष्टता आ जाती और उद्देश्य अधिक जनोपयोगी होते। पर जो नही हुआ, उसकी चर्चा अब क्या करनी।

मजदूरों की समस्या पर भी आचार्यजी अपने ढंग से विचार करते थे। वह मात्र ट्रेड यूनियन मनोवृत्ति के पूर्णतः खिलाफ थे। इसके साथ वह मध्यम वर्गीय क्रांतिकारी चिंतकों और कार्यकर्ताओं को भी जोड़ना चाहते थे। उनके विचार में समाजवाद का संदेश ये चिंतक ही दे सकते है और ऐसे ही कार्यकर्ता किसानों और मजदूरों की मनोवृत्ति को परिष्कृत करके उन्हे सदियो से घर

कर गई भाग्यवादिता से बाहर निकाल सकते है। सम्पूर्णानंदजी तो भाग्य शब्द को ही अभारतीय मानते थे और भाग्य पर भरोसा करके काम करने वालो से बडी नफरत रखते थे। नरेन्द्रदेवजी भी किसानों-मजदूरों के मस्तिष्क से भाग्यवाद को निकाल फेंकना चाहते थे और चाहते थे कि उनमें अपने पुरुषार्थ, कर्तव्य और अधिकार का समुचित ज्ञान हो और वे उसके प्रति सचेष्ट हों। वह शोषण के प्रश्न पर जातिवाद को सामने नहीं रखते थे। शोषक और शोषित बस ये दो ही वर्ग हैं। इनमे सभी जातियो के लोग होते हैं। लखनऊ के पंच सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होने कहा था, "कुचला हुआ मजदूर आर्थिक एकाधिकार का दोष जाति की ऊंचाई को देता है। वह यह नही देख पाता कि शोषक और शोषित ऊंची और नीची दोनो जातियों मे बंटे हैं, किसी मे थोडे है, किसी में ज्यादा। देहात का गरीब बिरादरी की परिभाषा मे ही सोचता है। हमे देहात की शोषित जनता को समझाना है कि जाति, वंश और सम्प्रदाय के भेदों को भुलाकर शोषक वर्ग के आर्थिक प्रभुत्व के विरुद्ध वे संयुक्त मोर्चा कायम करे।"

"आचार्य नरेन्द्रदेव मजदूरों का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक प्रशिक्षण आवश्यक समझते थे। उनकी राय मे मजदूरो को मौजूदा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का तथा समाजवाद के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यो और मूल्यों का ज्ञान कराया जाए, उन्हे सम्प्रदाय और जात-पांत की संकीर्ण भावनाओ से ऊपर उठाकर देश की समस्याओं पर सोचने के लिए प्रोत्साहित किया जाए, उनके सांस्कृतिक जीवन को यथाशक्य परिष्कृत किया जाए, तथा उनकी सहज नैतिक प्रेरणाओ को जाग्रत और विकसित करने में उन्हें सहायता दी जाए और उन्हे जनतांत्रिक सहकारी कार्यपद्धति के अभ्यास की ओर प्रेरित किया जाए।" (मुकुट बिहारी, 261) आचार्यजी के मत मे नैतिक तथा आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न वर्ग-संघर्ष का अविच्छिन्न अंग था। उनका विचार था कि समाजवाद की लड़ाई मजदूर वर्ग के नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा रखती है। यदि हम नैतिक आधार पर पूंजीवाद को घृणित बताते हैं तो हमको नैतिक स्तर पर समाज को एक नई दृष्टि देनी चाहिए। उनका विश्वास था कि सर्वहारा मजदूरो को रोजमर्रा के भोजन की अपेक्षा आत्मविश्वास, स्वाभिमान और स्वतंत्रता की कही अधिक जरूरत है। आचार्य नरेन्द्रदेव मजदूर संगठनों में विभाजन के

विरोधी थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब भारत के मिल मजदूर ट्रेड यूनियन के रूप में संगठित हुए थे, तब इस बात की आशा बंधी थी कि मजदूरों के इस संगठन को मजबूत बनाकर शोषक वर्ग के विरुद्ध मोर्चा कायम किया जा सकता था, पर शीघ्र ही वे दो तीन दलों में विभक्त हो कर स्वार्थ के आधार पर काम करने लगे। नरेन्द्रदेवजी को इस बात का बराबर दुख बना रहा कि अवसरवादी नेताओ ने उनके वर्गों मे फूट पैदा कर मजदूरो को गुमराह बना रखा है। नरेन्द्रदेवजी को मजदूरों की क्रांतिकारी शक्ति में भी विश्वास था और वह यह भी मानते थे कि मजदूर संगठन एक महान राजनीतिक ताकत बन सकता है। पर इसके लिए वह यह भी आवश्यक समझते थे कि कांग्रेस द्वारा संचालित साम्राज्य विरोधी संघर्ष में श्रमिक शामिल हों। कांग्रेस द्वारा सचालित राष्ट्रीय संघर्ष से मजदूरों को अलग रखने की कम्युनिस्टों की नीति को वह आत्मघाती मानते थे। उनका विश्वास था कि कम्युनिस्टो की नीति पर चलकर मजदूर न तो राजनीतिक शक्ति बन सकते हैं और न देश का कोई भला कर सकते हैं।

नरेन्द्रदेवजी की कल्पना के जनतांत्रिक समाजवाद में किसानों और मजदूरो का सम्मिलित संगठन नैतिक उत्थान की राह पर चलता हुआ शिक्षित समुदाय बनकर ही राष्ट्रहित और प्रगति का साझीदार बन सकता था। इसके लिए कठिन परिश्रम,, अध्यवसाय, प्रशिक्षण और स्वार्थहीन नेतृत्व पर वह बराबर जोर देते रहे।

शासन से सहयोग

आचार्य नरेन्द्रदेव दृढ़ व्रती, सिद्धांतों से समझौता न करने वाले आदर्शवादी राजनेता थे। राजनेता के अतिरिक्त शिक्षाशास्त्री, विद्वान, दार्शनिक और भारतीय इतिहास और संस्कृति के मर्म की समझ रखते हुए उसके पोषक और उन्नायक भी थे। ऐसे प्रतिभावान पुरुष उनके समय में कुछेक ही हुए। यह सब होते हुए उनका सार्वदेशिक रूप राजनेता का ही उभरता गया। गांधीजी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संग्राम में उनकी भूमिका सदा चिरस्मरणीय रहेगी। राजनीति के क्षेत्र मे उतरने पर और बावजूद प्रारम्भ मे तिलक और बाद में गाधीजी के नेतृत्व को स्वीकार कर, उनके आदर्शों को अपनाते हुए भी उनकी स्वतंत्र चेताबुद्धि अपनी अलग राह भी बनाती रही। उसी का नतीजा था कि कांग्रेस समाजवादी पार्टी के बनने पर पहले तो उसमे सक्रिय रहे, बाद में कांग्रेस से अलग होने पर समाजवाद की पुष्टि, उसकी व्याख्या और उसके भारतीय स्वरूप का विश्लेषण तथा पहचान कराने में अग्रणी होने की भूमिका मे वह कांग्रेस विरोधी नेता के रूप मे देखे गए। कांग्रेस की नीतियो की खामिया उनसे अधिक और कम ही लोग पहचान पाते थे, क्योंकि वह मूलतः कांग्रेस के ही थे। असेम्बली में आकर भी उन्होंने संविधान परिषद में जाना स्वीकार नही किया। असेम्बली में जाने के समर्थन पर उनके अपने विचारो का यत्किंचित संकेत अन्यत्र भी हुआ है। यहां उसकी पुनः चर्चा इसलिए भी प्रासंगिक हो उठी है कि उससे उनके उस रूप का पता चलता है जो खुला था, उदार था, देश और समाज-हित-साधक था।

ऊपर आचार्यजी के कांग्रेस से सैद्धांतिक मतभेदों का संकेत दिया गया है। यहीं यह भी याद रखना चाहिए कि वह 1936 मे ही प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुन लिए गए थे और जवाहरलालजी के आमंत्रण पर राष्ट्रीय कार्य समिति के भी सदस्य थे। अतः प्रांतीय स्तर पर वह कांग्रेस की नीतियो का न केवल संचालन कर रहे थे, वरन राष्ट्रीय स्तर पर उनका नियमन और निर्धारण

भी कर रहे थे। एक लम्बे अर्से तक कांग्रेस के उच्चस्थ पदों पर रहते हुए उन्हें कांग्रेस में जो नेतृत्व का अवसर मिला था, उसको देखते हुए यह कहना कि वह कांग्रेस के कार्यों और नीतियों के सदा विरोधी रहे, अनुचित होगा। जिन सिद्धांतों, आदर्शों, और कार्यक्रमों का निर्माण उनके कांग्रेस में रहते हुए हुआ होगा, उनके हटते ही कांग्रेस ने उनका सर्वथा त्याग कर दिया होगा, यह भी ठीक नहीं है। अतः कांग्रेस जब-जब भी सत्ता में आई, उसकी रीति-नीति में आचार्यजी के विचारों और सक्रियता के अवशेष बराबर बने रहे होंगे। आचार्यजी की ऐसी स्थिति में कांग्रेस की कतिपय नीतियों और कार्यों का विरोध करते हुए यह मानना पड़ेगा कि वह रोगी का उपचार कर रहे थे और प्रायः रोगी को स्वास्थ्य की दृष्टि से कड़वी दवा देना आवश्यक होता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवाद की व्याख्या और गांधीजी के रामराज्य की परिकल्पना में शायद मौलिक भेद नहीं था। या तो आचार्यजी प्रच्छन्न बौद्ध की भूमिका निभा रहे थे, अन्यथा गांधीजी ही प्रच्छन्न रूप से समाजवाद को जनमानस के संस्कार के साथ-साथ उसमें उतारने की चेष्टा कर रहे थे। एक उपचार देर से असर करने वाला, दीर्घकालिक था, दूसरा तत्काल फल की आशा में शल्यचिकित्सा जैसा आधुनिक और दीखने में वैज्ञानिक-सा था। एक भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति और बुनावट की पहचान के साथ चलने वाला, दूसरा आयातित बीज के भारतीय संस्करण जैसा था। जो भी हो, नरेन्द्रदेव और गांधीजी की बाह्य और आन्तरिक बनावट में थोड़ा ही फर्क था। कांग्रेस के प्रति उनकी निष्ठा की स्थायी पहचान का एक प्रत्यक्ष रूप उनकी सफेद गांधी टोपी थी जो जीवनपर्यन्त उनके सिर पर सुशोभित होती रही।

इस प्रकार की देशज प्रकृति और सांस्कारिक समता की यह स्वाभाविक निष्पत्ति होनी ही थी कि कांग्रेस-से अलग होने पर भी कांग्रेस सरकारों के उन कामों में, जो देश और समाज के हित में सोचे और चलाए जा रहे हों, कांग्रेस शासन के आग्रह पर नरेन्द्रदेवजी उनमें अपना सक्रिय सहयोग देते। इस बात पर अटकल लगाना बेमानी होगा कि दो बार कांग्रेस का अध्यक्ष बनने का अवसर आने पर भी वह कांग्रेस के अध्यक्ष न बन पाए और यदि बन जाते तो शायद कांग्रेस से अलग न होते। गांधीजी की इच्छानुसार यदि वह स्वतंत्रता के बाद 1947 में कांग्रेस अध्यक्ष बन गए होते तो यह प्रश्न और भी उभरकर सामने आया होता। लेकिन अगर ऐसा होता, तब भी आचार्यजी अपने स्वतंत्र

विचारों से विरत न होते और अगर उनकी राय में कांग्रेस से अलग होकर ही देश और समाज का कल्याण होता दिखाई देता तो देश और समाज के लिए वह कांग्रेस और गांधीजी को उस दशा मे छोडने में संकोच न करते। यद्यपि ऐसा करके भी उनका स्नेह-सम्बध गांधीजी और कांग्रेस से पूर्ववत् बना रहता। गाधीजी तो उनके आदर्श और मर्यादा पुरुष थे। उनसे इतर व्यक्तियों से भी उनके स्नेह सम्बध सब विरोधो के बावजूद अंत तक बने रहे। जवाहरलालजी और पंतजी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी की चारित्रिक विशेषता ही ऐसी थी कि सैद्धांतिक विरोधो के होते हुए भी वह वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर अपने मानवीय सम्बधो मे कोई खरोंच नही लगने देते थे। वैसे भी उनका उदार मन पूर्व सम्बधों को कुछ खोकर भी बनाए रखने में ही तत्पर रहता था। वास्तविकता तो यहा तक थी कि जिनके कारण उनका कुछ अहित भी हुआ हो, उनसे भी वह सद्व्यवहार बनाए रखते थे और मन मे तिक्तता नही आने देते थे।

उन्होंने शासन को अपने तमाम सैद्धांतिक विरोधो के बावजूद जितना सहयोग दिया, उसकी समझ ऊपर की बातो से अधिक खुलती है। स्थायी रूप से स्वशासन या कांग्रेसी शासन की स्थिति तो 1946 से बनी, पर एक बार 1936-37 मे भी ऐसा अवसर आया था। आचार्यजी कांग्रेस द्वारा मन्त्रिमंडल बनाने के घोर विरोधी थे, फिर भी उन्होने जवाहरलालजी को उस चुनाव घोषणा-पत्र के, जो 1936 में बना, बनवाने मे मदद की। स्वय मन्त्रि-मडल बनाने से अलग रहे। जब कांग्रेस मंत्रिमडल ने राजनीतिक कैदियो को छोड़ने का निश्चय किया और गवर्नर ने अपने विशेष उत्तरदायित्व सम्बधी अधिकारो का प्रयोग करना चाहा तो कांग्रेस मन्त्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया। यह काम बिहार मे भी हुआ। आचार्य नरेन्द्रदेव ने मन्त्रिमंडलो के इस काम का जोरदार समर्थन किया। बाद में गवर्नरों के आश्वासन के बाद ये मंत्रिमडल पुनः बने। कांग्रेस मंत्रिमंडल में न होते हुए भी कांग्रेस समाजवादी पार्टी के सदस्य की हैसियत से कांग्रेस की समाजवादी नीतियो और जनहित के कार्यों का समर्थन बड़े सशक्त रूप में करते रहे। उनकी एक स्वतंत्र विचारधारा थी जो कांग्रेस द्वारा मंत्रिमडल बनाए जाने के विरोध मे थी, पर एक बार बहुमत से मंत्रिमंडल बनाए जाने का निश्चय हो जाने के बाद उनकी अनुशासनप्रियता इतनी अधिक थी कि वह अपने व्यक्तिगत विचारो को दबाकर भी शासन

का समर्थन करते रहे। कांग्रेस से सर्वथा अलग हो जाने के बाद भी सही बातो मे, सही कामो मे वह इसे अपना सहयोग देते रहे। उनके लिए आदर्श स्थिति यही रही कि वह विरोधी की हैसियत से, विरोध के लिए हर बात का विरोध करना उचित नही समझते थे। आदर्शवादिता की स्थिति तो यहा तक थी कि जब वह 1948 में कांग्रेस से अलग हुए तो असेम्बली सीट से भी इस्तीफा दे दिया, क्योंकि उस पर उनका चुनाव कांग्रेस के टिकट पर हुआ था। इसकी पुष्टि उनके मित्र स्व० सम्पूर्णानंदजी भी अपने एक संस्मरण में करते है। यह उद्धरण यहां सार्थक होगा। सम्पूर्णानंदजी कहते हैं, "हमारे देश मे दुर्भाग्य से अभी यह हालत है कि जहा गम्भीर राजनीतिक मतभेद होता है, वहा आपस मे कटुता आ जाती है। इतना ही नही, राजनीतिक मतभेद के कारण लोग ऐसे कामो में भी एक दूसरे के साथ सहयोग करने में आनाकानी करते हैं जो सैद्धांतिक दृष्टि से राजनीतिक दलबंदी से सर्वथा असम्बद्ध हैं। नरेन्द्रदेवजी इन दोनों बातों से परे थे।...दो-दो बार चुनाव लडे गए, जिनमे कांग्रेस और समाजवादी दल, जो पीछे से प्रजा समाजवादी दल मे परिणत हो गया, एक-दूसरे के विरुद्ध चुनाव के अखाड़े में उतरे, परंतु हमारा आपस का सौजन्य ज्यों-का-त्यों बना रहा। हम दोनों की दुर्बलता ही होगी, परतु यह सत्य है कि न तो एक बार भी नरेन्द्रदेवजी मेरे चुनाव क्षेत्र मे बोलने आए और न मैं उनके क्षेत्र मे गया। आपस मे कोई समझौता नही हुआ था। यों ही हम दोनों के चित्त मे ऐसी प्रेरणा हुई। हमारे आपस के व्यवहार को देखकर कोई यह नही कह सकता था कि हमारे बीच मे किसी प्रकार की कोई दीवार है।"

शिमला कांफ्रेंस के बाद ब्रिटिश शासन के आश्वासनों को 'अनिश्चित, अपर्याप्त और असंतोषप्रद' मानते हुए भी कांग्रेस ने चुनाव में हिस्सा लिया और अपने चुनाव घोषणा में पूर्ण स्वराज्य की मांग तथा बहुत से आर्थिक सुधारो और जमींदारी उन्मूलन के उद्देश्यो को स्पष्ट किया। इस चुनाव में आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी भाग लिया। वह अपने प्रांत की संसदीय समिति के सदस्य थे और इस प्रांत के कांग्रेसी उम्मीदवारो के चुनाव मे उनका काफी प्रभावशाली योगदान था। कांग्रेस की ओर से जो उम्मीदवार उनके प्रांत की विधान सभा मे चुने गए, उनमे से अधिकांश उनके ही गुट के थे। वह स्वयं भी फैजाबाद-सीतापुर-बहराइच नगर क्षेत्र से भारी बहुमत से चुने गए। उनसे मंत्रिपद स्वीकार करने के लिए कहा गया। पर वैधानिकता की ओर कांग्रेस का

झुकाव उन्हें ठीक नहीं लगता था। उन्होंने मंत्रिपद स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उनकी धारणा थी कि देश की आजादी के लिए अभी एक क्रांतिकारी संघर्ष लड़ना बाकी है। फिर भी शासन के कामो मे अवसर आने पर सहयोग देते रहे। सन् 1947 में उत्तर प्रदेश शासन के शिक्षा मन्त्री सम्पूर्णानंदजी थे। देश आजाद हो चुका था। हिन्दी का राजभाषा होना सम्भाव्य था। वह देश की सम्पर्क भाषा बनती। अत: निश्चय हुआ कि नागरी लिपि मे एकरूपता के साथ-साथ कुछ ऐसे सुधार किए जाएं जो उसे टाइपराइटरों और मुद्रण के लिए सुंदर बना दें और सार्वदेशिक स्तर पर वह एक रूप मे ही व्यवहृत हो। इस काम के लिए शासन ने—विशेषकर सम्पूर्णानंदजी ने—आचार्यजी से आग्रह किया कि वह इस सम्बध में बनाई जाने वाली समिति के अध्यक्ष हों। आचार्यजी स्वयं हिन्दी को देश की राजभाषा और सम्पर्क भाषा बनने मे समर्थ मानते थे और उनका विश्वास था कि हिन्दी ही देश की एकता और राजकाज के उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकती है। अत: वह इसके अध्यक्ष बने और शासन के इस कार्य में बड़ी लगन के साथ सहयोग किया। प्रस्तुत लेखक को भी उस समिति में सदस्य सचिव की हैसियत से उनके साथ काम करने का अवसर मिला था।

सहयोग की भावना उनमे कितनी थी, इसका एक प्रमाण पुनः सम्पूर्णानंदजी के ही शब्दों में देखना उचित होगा। सम्पूर्णानंदजी लिखते हैं, "1936 से ही मेरा कांग्रेस समाजवादी दल से, जिसको जन्म देने वालो में मेरा भी स्थान था, मतभेद आरम्भ हुआ और वह काफी बढता गया।" पर इस सैद्धांतिक मतभेद का कोई असर इन दोनों महापुरुषो के व्यक्तिगत सम्बंधो पर कभी नही पड़ा। सन् 1938 मे उत्तर प्रदेश की सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा पद्धति के सुधार के लिए दो समितिया बनाई। नरेन्द्रदेवजी माध्यमिक शिक्षा समिति के अध्यक्ष बने। "13 अप्रैल 1938 को सरकार ने घोषित किया कि ये दोनो समितिया एक संयुक्त समिति की उप समितियों की हैसियत से काम करेगी। इस संयुक्त समिति ने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्रों में संयुक्त प्रात की शिक्षा पद्धति के पुनर्गठन के सम्बंध में बहुत व्यापक ढग से जांच करके 13 फरवरी 1939 को रिपोर्ट तैयार की। आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने इस सयुक्त समिति के अध्यक्ष का कार्य किया। मई 1938 को शिक्षा मन्त्री सम्पूर्णानंदजी की अध्यक्षता मे लखनऊ, इलाहाबाद और आगरा

विश्वविद्यालयों के कार्यों की जांच के लिए एक दूसरी समिति बनाई गई। आगे चलकर इस समिति को दो उप समितियों में बांट दिया गया। एक समिति के सुपुर्द लखनऊ और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के कार्यों की जांच हुई। इसके अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेवजी नियुक्त हुए।'' शिक्षा मंत्री सम्पूर्णानंदजी की अनुपस्थिति में दोनों उपसमितियों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता भी आचार्यजी को ही सौंपी गई थी। नवम्बर 1939 मे विश्व युद्ध मे सहयोग के प्रश्न पर कांग्रेसी सरकारों के इस्तीफा दे देने के बावजूद इन समितियों का काम चलता रहा और आचार्यजी उसमें संलग्न रहे। "दिसम्बर 1940 मे कमेटी की रिपोर्ट के पहले दो भागों का मसौदा उसके सदस्यों में वितरित किया गया, पर कमेटी के कई प्रमुख सदस्यों के जेल चले जाने के कारण उन पर कमेटी विचार नहीं कर सकी। जून 1941 में रिपोर्ट का तीसरा भाग भी सदस्यों के पास भेज दिया गया। 16 जुलाई 1941 को वे सिफारिशें प्रांतीय गजट मे प्रकाशित कर दी गईं। सारी रिपोर्ट भी इस नोट के साथ प्रकाशित कर दी गई कि कमेटी ने बाकायदा तौर पर अपनी किसी बैठक मे इसे स्वीकार नहीं किया है। कमेटी के अध्यक्ष सम्पूर्णानंदजी ने इस प्रकार मसौदे के प्रकाशित किए जाने पर आपत्ति की तथा 25 नवम्बर 1941 को कमेटी के मंत्री को उसकी बैठक बुलाने को लिखा। पर संयुक्त प्रांत की सरकार ने सूचित किया कि नवम्बर 1940 मे ही कमेटी समाप्त कर दी गई थी अतः उसकी बैठक बुलाने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

इस प्रकार यह कार्य प्रायः निरर्थक हो गया। सन् 1946 में पुनः कांग्रेस सरकारें बनीं। इस बार पुनः माध्यमिक शिक्षा मे सुधार की आवश्यकता को ध्यान में रखकर तत्कालीन शिक्षा मंत्री ने एक समिति की स्थापना की। सम्पूर्णानंदजी लिखते हैं, "इस काम के लिए नरेन्द्रदेवजी से अच्छा कोई सभापति मेरी समझ में नहीं आया। मैंने उनसे अनुरोध किया और उन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया। हम दोनों को थोड़ी बहुत कटु आलोचना सहनी पड़ी। परंतु मैंने प्रदेश के हित मे ऐसा करना उचित समझा और नरेन्द्र-देवजी ने उदारता और साहस के साथ मेरे इस अनुरोध को स्वीकार करना प्रदेश के हित में उचित समझा। इस बात की आवश्यकता है कि हम सब जो राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हैं, राष्ट्रीय निर्माण के कामों मे इसी प्रकार अपने दलगत विचारों से ऊपर उठना सीखें। यह जानते हुए कि यदि कोई

अच्छा काम हुआ तो उसका श्रेय बहुत कुछ कांग्रेस सरकार और कांग्रेस दल को प्राप्त होगा, मेरी बात को मान लेना साधारण नैतिक साहस की बात नहीं थी।" जैसा कि इस अध्याय मे पहले भी संकेत किया जा चुका है, नरेन्द्रदेवजी के सामने सदा ही राष्ट्र और सकल समाज का हित सर्वोपरि रहा। राष्ट्र और समाज की सेवा और उनका हित साधन जब भी, जैसे भी और जिसको भी सहयोग देकर हो सकता था, नरेन्द्रदेवजी अपनी इस कर्तव्य भावना से कभी भी पीछे नहीं हटे। इसी प्रकार उन्होंने संस्कृत शिक्षा समिति का भी भार अपने ऊपर लिया, पर उसे अपनी जिन्दगी में समाप्त नही कर पाए। नरेन्द्रदेवजी का विश्वास था कि बिना अतीत की पहचान और सम्यक् ज्ञान के भविष्य की सही परिकल्पना नही की जा सकती। इसीलिए वह हर भाषा की शिक्षा के साथ संस्कृत की शिक्षा और उसका ज्ञान आवश्यक समझते थे।

प्रदेश के बाहर भी और केन्द्रीय शासन को भी जब कभी सहयोग की आवश्यकता पड़ी, उन्होंने नि:संकोच दिया। केन्द्रीय सरकार के आग्रह पर वह उस्मानिया विश्वविद्यालय कमेटी के भी अध्यक्ष होने के लिए राजी हो गए थे, पर गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण उन्हे यह काम नही सौंपा जा सका। पर मौलाना आजाद के आग्रह पर उन्होने काशी विश्वविद्यालय का कुलपति बनना स्वीकार कर लिया। उनका स्वास्थ्य उत्तरोतर गिरता ही जा रहा था, पर उस हालत में भी जिस प्रकार उन्होंने काशी विश्वविद्यालय का काम संभाला और वहां शिक्षकों और विद्यार्थियों-दोनों के ही प्रिय हुए, वह आज भी स्पृहणीय बना हुआ है। शासन को सहयोग देते हुए उन्होंने लखनऊ और काशी विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद को सुशोभित किया। इस सम्बध मे प्रो० मुकुट बिहारीलालजी का कथन उद्धरण योग्य है। वह लिखते हैं, "विद्यार्थियों के प्रति जो उनकी सद्भावना थी उसका छात्रो को भी अहसास था। वह भी आचार्यजी पर मुग्ध थे। उन्हें अपने उपकुलपति के व्यक्तित्व और योग्यता पर गर्व था। इस स्वतंत्रता के युग मे शायद ही कोई ऐसा उपकुलपति हो जो विद्यार्थियों को अपनी ओर इतना आकृष्ट कर सका हो कि जितना आचार्य-जी। शायद ससार के इतिहास मे किसी कुलपति को भी विद्यार्थियों का इतना मान और प्रेम प्राप्त नही हुआ, जितना आचार्य नरेन्द्रदेव को उस समय प्राप्त हुआ जब वह लखनऊ विश्वविद्यालय छोड़कर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय गए थे। एक तरफ लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उन्हें छोड़ने को तैयार

नहीं थे और समाचार सुनकर बहुत व्याकुल और अधीर थे, दूसरी तरफ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उनके स्वागत के लिए बहुत ही उतावले थे। काशी आने पर विद्यार्थियों द्वारा उनका ऐसा भव्य स्वागत हुआ, जैसा गांधीजी के अतिरिक्त किसी दूसरे विद्वान या नेता का काशी में कभी नहीं हुआ। वह जब तक काशी में रहे, उनके प्रति विद्यार्थियों की निष्ठा बनी रही। उनकी अनुपस्थिति में भी अनुशासन का पालन करना विद्यार्थी अपना कर्तव्य समझते रहे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि जब 1953 में लखनऊ और प्रयाग विश्वविद्यालयों में छात्र यूनियनों की व्यवस्था को लेकर काफी विवाद और झगड़ा हो रहा था, उस समय नरेन्द्रदेवजी लखनऊ में बीमार थे, पर उनकी अनुपस्थिति में भी बनारस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी चुप थे। वह कोई ऐसी बात करना नहीं चाहते थे, जिससे उनके उपकुलपति के स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव पड़े।"

नरेन्द्रदेव : बौद्ध धर्म और दर्शन

नरेन्द्रदेवजी को बौद्ध दर्शन ने इतना क्यो आकृष्ट किया ? यह प्रश्न इसलिए भी उठता है कि जिस व्यक्ति का बचपन और युवावस्था सनातन धर्म के निष्ठावान परिवेश मे बीता हो, जिसके यहा प्रायः उसी सम्प्रदाय और वेदात आदि के विद्वान आते-जाते रहे हो, जिसने उन्ही लोगो की शास्त्र-चर्चा और मत-मतांतर को सुना हो, उसके मन में इन्ही से सम्बद्ध दर्शनों के प्रति आकर्षण न होकर वेद विरोधी दर्शन के प्रति रुचि का जागना और फिर उसका गहन अध्ययन और पर्यालोचन करना कुछ आश्चर्यजनक भी लगता है और इससे अधिक इस बात की अपेक्षा करता है कि उसका कारण ढूंढा जाए। इतना कह देना पर्याप्त न होगा कि नरेन्द्रदेवजी को बौद्ध धर्म ने बहुत प्रभावित किया था तथा यह भी पर्याप्त न होगा कि भगवान बुद्ध की नैतिकता ने उन्हें आकृष्ट किया। इस प्रकार के हमारे कई पूर्व पुरुष नैतिक थे। उनकी बौद्ध धर्म और दर्शन मे क्यो इतनी उत्कट प्रवृत्ति हुई, इसको समझने के लिए भगवान बुद्ध के जीवन चरित्र को देखना होगा और उसके परिप्रेक्ष्य में इनके स्वय की चारित्रिक विशेषताओं को। इतना ही नहीं, नरेन्द्रदेव के व्यक्तित्व के विकास-क्रम को भी ध्यान में रखना होगा, अन्यथा एक बात शायद होकर रह जाती कि वह बौद्ध हो गए होते, उन्होने बौद्ध धर्म को अपना लिया होता और तब शायद उनका जीवन ही वह न होता जो कुछ हुआ और जिसका आख्यान लिखा जा रहा है, जो लिखा जाकर भी पर्याप्त नही है न हो सकेगा।

भगवान बुद्ध शाक्य वंश मे उत्पन्न हुए थे और गोत्र के हिसाब से गौतम थे। उनका नाम सिद्धार्थ था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन था। उन दिनो, विशेषकर पूर्वी भारत मे क्षत्रियों का प्राधान्य था। क्षत्रिय ब्राह्मण पुरोहितों के प्रतिपक्षी थे। वे उनको अपने से बड़ा मानने को तैयार नही होते थे। विश्वामित्र और वशिष्ठ की कथा का प्रभाव बना हुआ था, ऐसा लगता है।

यही कारण है कि 'पालि निकाय' में क्षत्रियो को वर्णों की गणना में प्रथम स्थान दिया गया है। सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा वैसी ही हुई, जैसी कि अन्य राजकुमारों की उन दिनों होती थी। उनके पिता भी वैदिक धर्म के अनुयायी थे, अतः इन्हे जो भी शिक्षा मिली होगी, वेद तथा तब तक के रचे गए शास्त्र और सिद्धातो के अनुसार ही मिली होगी। वह सब संक्षेप में कहे तो वैदिक शिक्षा ही रही होगी और उसमें उपनिषदों का ज्ञान अवश्य ही कराया गया होगा। कुशाग्र बुद्धि सिद्धार्थ के लिए यह स्वाभाविक था। उनमे भी जीवन और जगत के रहस्यों को जानने की उत्कंठा प्रबल हुई। मन की जब ऐसी स्थिति हो, तब सांसारिक सुखों से विरक्ति उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही था। पर उससे भी कुछ अधिक हुआ। संसार से उद्वेग इतना तीव्र हो गया कि वह परमार्थ सत्य की खोज मे काषाय वस्त्र धारण कर भिक्षु भाव से, अभिनिष्क्रमित हुए। नरेन्द्रदेवजी लिखते हैं, "उस समय तापसों की विशेष प्रसिद्धि थी। सिद्धार्थ के पिता के यहां काल-देवल आदि तापस आया करते थे। एक तपोवन में उनको मालूम हुआ कि विम्ब प्रकोष्ठ मे 'अराड-कालाम' नामक तापस रहते हैं; जो निःश्रेयस का ज्ञान रखते हैं। यह सुनकर सिद्धार्थ ने पूछा कि जरा-मरण, रोग से जीव कैसे विमुक्त होता है ? 'अराड' ने सक्षेप में अपने शास्त्र के निश्चय को बताया। उन्होने संसार की उत्पत्ति और विवर्त्तन को समझाया। तत्वो की शिक्षा देकर उन्होने नैष्ठिक पद की प्राप्ति का उपाय भी बताया। किन्तु सिद्धार्थ को 'अराड' की शिक्षा से संतोष नहीं हुआ। विशेष जानने के लिए वह 'उद्रक रामपुत्र' के आश्रम को गए, किन्तु इनके भी दर्शन को सिद्धार्थ ने स्वीकार नहीं किया। इनकी शिक्षा साख्य योग की थी। जब इनसे परितोष न हुआ, तब वह अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) शांतिवर-पद की गवेषणा में 'उरुवेला' आए और 'नेरंज्जना' (या नैरन्जना) नदी के तट पर आवास किया। उन्होने विचार किया कि मुझमें भी श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा है; मैं स्वयं धर्म का साक्षात्कार करूंगा।"

कैसी सुंदर कथा है। आचार्यजी की लेखनी में पड़कर थोडे में ही यह उस पूरे युग का दर्शन कराती है, जिसे उपनिषद काल कहा गया है। उपनिषद की कई कथाओ की पुनरावृत्ति होती दिखाई पड़ रही है। महीदास की कथा का एक रूप इसमें भी प्रकट होता दिखाई पड़ रहा है, जब उसने भी यथाभिमत-ध्यानात्' से चित्त को एकाग्र किया था और समाधि की ऊंची भूमिकाओं मे

प्रवेश किया था। भगवान् भी कृत संकल्प होकर नैरन्जना के तट पर बैठे थे और समाधि की ऊंची भूमिकाओं मे शीघ्र प्रवेश पाया था। पर इससे भी क्या सतोष हुआ था ? धर्म अर्थात यम-जरा-मरण के कारण-कार्य का ज्ञान होना जरूरी था। वह तो नचिकेता ही कर सकते थे। भगवान ने भी वही किया और साक्षात धर्म का दर्शन करना ही जरूरी समझा। "रात्रि के प्रथम याम मे उनको पूर्व जन्मो का ज्ञान हुआ, दूसरे याम मे दिव्य चक्षु विशुद्ध हुआ, अतिम याम में द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुआ और अरुणोदय मे उनको सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।" यह उनका बुद्धत्व था। उसी दिन से वह बुद्ध कहलाने लगे। सर्वज्ञता का ज्ञान होने पर भगवान ने कहा "कष्टमय जन्म बार-बार लेना पडा। मैं गृहकारक की खोज मे संसार में व्यर्थ भटकता रहा। किंतु गृहशरण ! अब मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृह निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कड़ियां टूट गईं; गृह शिखर ढह गया। चित्त-निर्वाण का लाभ हुआ; तृष्णा का क्षय देख लिया।" नचिकेता को भी यही साक्षात्कार हुआ था। अस्तु।

भगवान के एक दूसरे आख्यान का भी वर्णन रोचक होगा। बुद्ध का उपदेश लोक भाषा में होता था क्योंकि उनकी शिक्षा सर्व-साधारण के लिए थी। आचार्यजी कहते हैं कि "बुद्ध के उपदेश उपनिषद् के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। उनकी शिक्षा की एक बड़ी विशेषता सार्वभौमिकता थी। इसी कारण एक समय बौद्ध धर्म का प्रचार एक बहुत बड़े भू भाग में हो सका। उन्होंने मोक्ष के मार्ग का आविष्कार किया, किंतु वह मार्ग प्राणिमात्र के लिए खुला था। जन्म से कोई बड़ा होता है या छोटा—इसे वह नही मानते थे।" वृषल सूत्र (सूत्तनिपात) मे भगवान कहते हैं :

"जन्म से कोई वृषल नहीं होता; जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। कर्म से वृषल होता है; कर्म से ब्राह्मण होता है। हे ब्राह्मण ! इस इतिहास को जानो कि यह विश्रुत है कि चाण्डाल पुत्र (श्वपाक) मातंग ने परम यश को प्राप्त किया। यहां तक कि अनेक क्षत्रिय और ब्राह्मण उसके स्थान पर जाते थे। अंत मे वह ब्रह्म लोक को प्राप्त हुआ। ब्रह्म लोक की प्राप्ति में जाति बाधक नही हुई।"

'आश्वलायन सूत्र' मे भगवान से आश्वलायन ब्राह्मण माणवक ने कहा कि "हे गौतम ! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य वर्ण हीन

हैं; ब्राह्मण ही शुद्ध होते है, अब्राह्मण नही, ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र है, उनके मुख से उत्पन्न हुए हैं—आप इस विषय मे क्या कहते हैं ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"हे आश्वलायन ! क्या तुमने सुना है कि यवन कम्बोज मे और अन्य प्रायन्तिक जनपदो मे दो वर्ण हैं—आर्य और दास। आर्य से दास होता है, दास से आर्य होता है।"

"हां मैंने ऐसा सुना है।"

"हे आश्वलायन ! ब्राह्मणो को क्या बल है, जो वे ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य हीन वर्ण है। क्या मानते हो कि केवल ब्राह्मण ही सावका (पाप) से प्रतिविरत होकर स्वर्ग मे उत्पन्न होते है; क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नही ?"

"नहीं गौतम।"

"क्या तुम मानते हो कि ब्राह्मण ही मैत्र-चित्त की भावना मे समर्थ होते हैं, ब्राह्मण ही नदी मे स्नान कर शरीर मल को क्षालित कर सकते है, इस विषय मे क्या कहते हो ? यदि क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण कन्या के साथ सहवास करे और उसके पुत्र उत्पन्न हो तो वह पुत्र पिता के भी सादृश है, माता के भी सादृश है। उसे क्षत्रिय भी कहना चाहिए, उसे ब्राह्मण भी कहना चाहिए। हे आश्वलायन, यदि ब्राह्मण कुमार क्षत्रिय कन्या के साथ सहवास करे और उसके पुत्र पैदा हो तो क्या उसे क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनो न कहेगे ?"

"हां कहेगे गौतम।"

"हे आश्वलायन ! मै चारो वर्णों को शुद्ध मानता हूं। जातिवाद ठीक नही है।"

'मुदरिक-भारद्वाज सूत्र' में भगवान कहते हैं कि जाति मत पूछो, आचरण पूछो—(मा जाति पुच्छ चरण पुच्छ)। हवन के लिए लाए हुए काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है। नीच और अकुलीन भी धृतिमान और श्रेष्ठ होता है। 'वसिट्ठपुत्त-सुत्त' मे वसिष्ठ और भारद्वाज दो माणवक भगवान के पास आते हैं और कहते हैं कि हम मे जातिवाद के सम्बंध मे विवाद है। भारद्वाज कहता है कि जन्म से ब्राह्मण होता है, वसिष्ठ कहता है कि कर्म से होता है। बताइए,

हम मे कौन ठीक है ? बुद्ध कहते हैं कि जिस प्रकार कीट, पतंग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि जातियो मे जातिमय पृथक-पृथक लिग होता है, उस प्रकार मनुष्यो मे नही होता। मनुष्यों में जिस किसी की जीविका गोरक्षा है, वह कृषक है, वह ब्राह्मण नहीं है। जिसकी जीविका व्यवहार है, वह वणिक है। जिसकी जीविका पौरोहित्य है, वह याजक है और जो राष्ट्र का भोग करता है, वह राजा है। किंतु तप, ब्रह्मचर्य, सयम और दम से ब्राह्मण होता है, जटा से, गोत्र से, जन्म से ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म है, वह शुचि है, वह ब्राह्मण है। (धम्मपद-ब्राह्मण वर्ग) हे दुर्मेध! तुम्हारी जटा और अजिनसारी से क्या होता है ? तुम्हारा आभ्यतर तो अधकारपूर्ण है और तुम बाह्य का परिमार्जन करते हो।" .....श्रामणो ने सबके लिए नि:श्रेयस का मार्ग खोल दिया।... . भगवान की शिक्षा व्यावहारिक थी। वे दुख के अत्यत निरोध का उपाय बताते थे।

उपर्युक्त उद्धरण आचार्यजी के ही शब्दों मे भगवान बुद्ध की देशना (उपदेश) और उनके कतिपय विचार थे। अब हम आचार्यजी के ही शब्दो मे उनके 'जीवन दर्शन' की कुछ बातो का उल्लेख करेंगे।

'प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने मे ध्येय है और स्वयं के लिए अपने दृष्टिकोण से पूर्ण एव सतोषदायक मार्ग की खोज अवश्य करनी चाहिए।" भगवान के अंतिम शब्द थे—"सब संस्कार अनित्य है। अपने निर्वाण के लिए बिना प्रमाद के यत्नशील हो। तुम अपने लिए स्वयं दीपक हो, 'अत्तदीपा विहरथ'। दूसरे का सहारा न ढूंढो।" दोनो का विचार साम्य उनके—आचार्यजी के—अपने निज के चरित्र के आभ्यतर का दर्शन कराता है। क्योंकि वह स्वयं कहते है "केवल ऐसा ही कार्य प्रसन्नता प्रदान कर सकता है, जो उसके स्वभाव के गहरे स्रोतो द्वारा प्रेरित हो।" उनकी यह मान्यता भी उनके किसी गहरे स्रोत से परिलुप्त हो रही थी। वह कोरा उपदेश नही कर रहे थे और न उन्होने किया। वह अपने विचारो को अपने ही कार्यो द्वारा जीवन मे उतारते रहते थे तथा किसी के भी विचारो को, चाहे वह भगवान बुद्ध के ही क्यो न हो, बिना अपने स्वतंत्र विचारों की कसौटी पर कसे मानने वाले व्यक्ति नही थे। उन्होंने अपने जीवन दर्शन पर लिखते हुए कहा है—"जीवन के पारम्परिक मूल्यो को बिना विवेचन किए स्वीकार नही करना चाहिए।" वह सदा ही मूल्यों की स्वीकृति-अस्वीकृति के लिए अपना मापदड रखते थे। समाज को,

व्यक्ति को परिवर्तनशील मानते हुए वह सदा ही चुनौतियां स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। उन्होने लिखा है, "यदि हम चाहते हैं कि जीवन सुखकर हो, कष्ट, पीड़ा एवं संघर्ष, जिनसे आज हम दबे हुए है, कम हो तो हमे अपने समय की चुनौती का सामना करने के लिए सामाजिक मूल्यो को नया मापदंड देना होगा। दूसरे व्यक्ति केवल उसकी सहायता और मार्गदर्शन कर सकते हैं किन्तु प्रयत्न उसे स्वय ही करना होगा। गौतम बुद्ध का भी यही आदर्श था। वह व्यक्ति को सामाजिक एवं तात्कालिक परिस्थितियो तथा वातावरण की उत्पत्ति मानते थे। बुद्ध ने स्वयं अपने से पहले के युगो के मानवीय उद्देश्यों का नया अर्थ लगाया था, उनकी नई परिभाषा की थी और अपने समय की सामाजिक स्थिति के अनुसार उनका पुनर्मूल्यांकन किया था। आचार्यजी भी इसी प्रकार सोच रहे थे और मान रहे थे कि विभिन्न युगो में इन मानवीय उद्देश्यों के अलग-अलग अर्थ रहे हैं। लगातार उनकी परिभाषा फिर से दी जा रही है और बदलती हुई सामाजिक दशाओ में उनका पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है। वह मनुष्य जाति के एकाकार विराट रूप को देखने में सक्षम थे, जैसे भगवान बुद्ध के सम्मुख मनुष्य था, मानव था। वह जातियो में किसी समुदाय विशेष के उत्थान के लिए रत नहीं थे, वरन् समस्त मानव जाति के कल्याण की बात सोच रहे थे। आचार्यजी कहते हैं कि "हम चहुं ओर मानवीय एकता और सहकारिता के प्रयत्नो का संदेश प्रसारित करेंगे। सभी जातीय और राष्ट्रीय बंधनो को समूल नष्ट करना होगा और मानव को अपने गहन सम्बंधों को अनुभव करना होगा, यदि उसे अपने आपको पूर्ण रूप से नष्ट होने से बचाना है।" आगे कहते हैं—"मेरे लिए आज सच्चे जीवन का तात्पर्य सामान्य हित के लिए सामाजिक पुनर्गठन के अर्थपूर्ण आंदोलन मे सक्रिय भाग लेना है।" भगवान ने भी बहुजन सुखाय और बहुजन हिताय के लिए ही अपने को समर्पित किया था।

अत: जिस व्यक्ति की यह मनोभूमि रही हो और जिसकी यह चारित्रिक विशेषता बनती जा रही हो, उसका झुकाव बौद्ध धर्म और दर्शन के लिए होना न केवल एक स्वाभाविक क्रिया के रूप में था, वरन् संकल्पपूर्वक उसके अध्ययन से मानवता को एक नया संदेश देना था। वह अपने देशवासियो मे से निराशावाद को दूर करना चाहते थे। उन्हें संकीर्ण विचारों से निकालकर जीवन के उद्देश्य और आदर्श का स्पष्ट चित्र उपस्थित करना चाहते थे।

उन्होंने लिखा है कि "हमे उन विचारधाराओ को निष्कासित कर देना चाहिए जो हमें आध्यात्मवादी बनाती हैं अथवा जीवन का धुंधला दृश्य उपस्थित करती हैं। हम भारतवासी इस प्रकार के निराशावादी विचारो पर विश्वास करने के आदी हो गए है, जो हमें बताते है कि जीवन एक रिक्त स्वप्न है।" ..."इस प्रकार के दर्शन एवं अनुशासन हमारा कुछ भला नही कर सकते।" वह परम्परा से आती हुई उस व्यक्तिवादी संस्कृति के विरुद्ध होते जा रहे थे, जिसमे धर्म, शुचिता, नीति, अर्थ, काम, मोक्ष सब व्यक्तिवाद के आधार पर टिक गया था और एक दूसरे के प्रति होड़ की भावना पैर जमा चुकी थी। वह अलगाव और स्वार्थ से ऊपर उठकर समस्त मानव जाति की एकता और उसके आर्थिक एवं सांस्कृतिक उत्थान की बात सोचने लगे थे। उन्होंने इस सम्बंध में अपने विचारो को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यदि समाज को जीवित रखना है तो लाभ प्राप्त करने के इच्छुक समाज की घृणित स्वार्थपरता एवं होड़ को त्यागना होगा।" व्यक्ति के महत्व को सर्वथा अस्वीकार नही किया जा सकता, अत. इस सम्बंध मे वह कहते हैं कि "ऐसा नहीं है कि व्यक्ति का कोई महत्व नही है और उसका अपना कोई जीवन नहीं है, केवल मशीन का वह एक पुर्जा मात्र है। वह मशीन का दास नहीं है, बल्कि मशीन को स्वयं अपनी और समाज की भलाई के लिए विवेक से चला सकता है, बशर्ते कि उसमें सामाजिक जागरूकता हो और उसने अपने वातावरण और उसकी समस्या को सच्चाई से समझ लिया हो और समुदाय के जीवन से अपने को अभिन्न समझ लिया हो।"

वस्तुतः वह अपने विद्यार्थी जीवन में ही उस समय के कुछ जाने-माने अध्यापको से, जो अपने विषयो के उद्‌भट विद्वान ही नही थे, वरन् विशिष्ट मानवीय व्यक्तित्व के अधिष्ठाता भी थे, प्रभावित हो चुके थे। साथ ही समाज और समाजशास्त्रीय नई उद्‌भावनाओ और सिद्धातों से परिचित हो चुके थे। उन्हें भारतीय इतिहास और पुरातत्व में विशेष रुचि उत्पन्न हो चुकी थी और इन विषयो का अध्ययन करते हुए उन्हें पालि, प्राकृत और फ्रेंच भाषाओं का भी ज्ञान हुआ। फलतः ऐसे उपकरणों और इस प्रकार की मानसिक और बौद्धिक पृष्ठभूमि का सहारा पाकर वह अंततः बौद्ध धर्म और दर्शन की ओर झुके, जिसमें उन्हे अपने बनते हुए आदर्शों और विचारों को पोषण मिलने की विशेष सम्भावनाएं स्पष्ट दिखाई दे रही थी। फलस्वरूप

आचार्यजी ने भारतीय दर्शनो मे बौद्ध दर्शन और धर्म को अपने स्वाध्याय और गहन अध्ययन का विषय बनाया और जब भी उन्हें समय मिला बौद्ध धर्म और दर्शन की गहराइयो मे उतरते चले गए। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'बौद्ध धर्म-दर्शन' की सारी सामग्री अहमदनगर जेल मे रहते हुए एकत्र की थी। अपने अध्ययनक्रम के विषय मे उनका ही लिखा हुआ दृष्टव्य है। "जब मैं अहमदनगर किले मे नजरबंद था, तब मैंने अभिधर्म कोश का फ्रेंच से अनुवाद किया था। यह ग्रथ बडे महत्व का है। मेरा विचार है कि इसका अध्ययन किए बिना बौद्ध दर्शन के क्रमिक विकास का अच्छा ज्ञान नही होता। यह वैभाषिकनय के अनुसार सर्वास्तिवाद का प्रधान ग्रंथ है। इस कार्य को समाप्त कर मैंने विज्ञानवाद के अध्ययन के लिए महायान-सूत्रालंकार, विंशिका तथा त्रिंशिका पर लिखी गई चीनी पर्यटक ह्वेन सांग की 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' का संक्षेप तैयार किया। आचार्य वसुबधु की त्रिंशिका पर अनेक टीकाए थी, जिनमे से केवल 'स्थिरमति' की टीका उपलब्ध है। ह्वेन साग की 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' चीनी भाषा में है। यह ग्रथ किसी संस्कृत ग्रथ का चीनी अनुवाद नही है, किन्तु एक स्वतंत्र ग्रथ है। त्रिंशिका पर जो अनेक टीकाए लिखी गई थी, उनके आधार पर यह ग्रथ तैयार हुआ था, इसलिए यह ग्रथ बड़े महत्व का है। इसका फ्रेंच अनुवाद पूसे नामक विद्वान ने किया है। इस ग्रथ का किसी अन्य भाषा मे अनुवाद नहीं हुआ है। मैंने 'अभिधम्मत्थ सगहो' (अभिधर्म मत संग्रह) 'विसुद्धिमग्गो' (विशुद्ध मार्ग) उसकी धर्मपाल लिखित टीका 'परमत्थ मंजूसा' (परमार्थ मजूषा) का अध्ययन किया। यह सब सामग्री अहमदनगर मे ही एकत्र की गई।" पर तब तक आचार्यजी ने स्वयं बौद्ध धर्म तथा दर्शन के किसी विस्तृत ग्रंथ के लिखने की योजना तैयार नही की थी, पर इतना अध्ययन, इतना चिन्तन और मनन कब तक भीतर ही बना रहता! उसे बाहर तो आना ही था। खेद तो यह है कि सबका सब जिस विस्तार से बाहर आना चाहिए था, आज तक नही आ सका। उनके 'बौद्ध धर्म-दर्शन' के प्रकाशन के बाद लगता है कि यदि वह जीवित रहते तो और भी प्रचुर सामग्री हिन्दी-पाठकों को दे जाते।

उन्होने बौद्ध धर्म और दर्शन की विद्वत्ता अनेक कष्टों के बीच अर्जित की। यह उनके जीवन से स्पष्ट है। दूसरे शब्दो मे कहें तो कहा जा सकता है कि बडे तप से उन्होंने इसे पाया था और अपने को इस विषय में अद्वितीय बनाया।

उनकी जिन कारणों से इस विषय की ओर रुचि गई, उसका यत्किंचित संकेत ऊपर दिया जा चुका है। पर इसमे संदेह नही कि इतिहास और भारतीय संस्कृति, पुरातत्व व पालि भाषा और व्याकरण के अध्ययन तथा ज्ञान ने इनको इस अनुपलब्ध और अदृश्य (तब तक इस सम्बंध के अध्ययन के लिए अपेक्षित सामग्री का पूर्ण अभाव था) विषय को अपने लिए और दूसरो के लिए भी उपस्थित करने में पूरी मदद दी। बौद्ध दर्शन के उन दिनों तक देश विदेश भर में बहुत थोड़े से विद्वान उसके प्रकाश के लिए, उसको सुलभ कराने प्रयास कर रहे थे। जगन्नाथ उपाध्यायजी के शब्दो मे "अध्ययन की इस अपरिचित दिशा की ओर वह अकेले बढे थे। फिर भी उन्होने पूरे त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य का तत्वस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्यजी के गम्भीर निबंध इसके प्रमाण है कि उन्होने 'अभिधर्म पिटक' के उन अंशो का गम्भीर अध्ययन किया था, जिसका अध्ययन पूरी सामग्री प्राप्त होने पर भी आज देश मे नही हो रहा है। स्थविरवाद के शमथयान (समाधि) का अध्ययन अपनी दुरुहता के कारण विदेश के बौद्ध मठो मे भी उपेक्षित-सा रहा है। आचार्यजी ने इस विषय के मूल ग्रथों के अतिरिक्त अट्टकथाओं (भाष्य-व्याख्याओ) तक का सांगोपांग अध्ययन किया और इन विषयो पर गम्भीर निबंध लिखे। इसके लिए उन्हें सिंघली और बर्मी ग्रथो की सहायता लेनी पडी। बौद्धधर्म और दर्शन की दिशा मे आचार्यजी की अप्रतिम विशेषता यह थी कि उन्होने स्थविरवाद और हीनयान के दर्शन और धर्म के दुरुह अध्ययन के साथ-साथ संस्कृत के महायानी दर्शनो का भी मूल ग्रंथों से अध्ययन किया था। सम्भवत: इस उभयज्ञता के आप एक मात्र उदाहरण है। महायानी दर्शनो का अध्ययन उन्होंने मूल संस्कृत से किया था और फ्रेंच, अंग्रेजी कृतियो का भी आधार लिया। बौद्ध धर्म और दर्शन की इन समस्त शाखा-प्रशाखाओ का अध्ययन उन्होने 1933-34 तक पूरा कर लिया था।" अध्ययन को पूरा कर लेने के समय का उल्लेख यहां विशेष रूप से किया गया है क्योकि इससे उनके आगे के राजनीतिक विचारों पर भी प्रकाश पडता है।

आचार्यजी के सम्बध मे बहुत लोगों ने श्रद्धांजलिया दी थी। उनमें और अलग से विचार करते हुए, विशेषकर उनकी समाजवादी विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए, यह लिखा गया है कि वह एंगिल्स की तरह यह मानते थे

कि "कुछ नैतिक नियम और आदर्श दीर्घकालीन होते है, पर वह यह भी मानते थे कि गतिशील और परिवर्तनशील ससार मे सामाजिक परिवर्तनो के साथ नैतिक नियमों और सिद्धान्तों में भी तबदीली होती रहती है और नैतिक आदर्शों का सामाजिक आदर्शो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन्हें एंगिल्स का नैतिक विश्लेषण मूलत स्वीकार था। उनकी तरह वह भी मानते थे कि सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ नैतिक सहिता भी बदलती है।" नरेन्द्रदेव के समाजवादी विचारो का विश्लेषण करते हुए लोगो ने उन पर मार्क्स, एंगिल्स और रोजालुक्सम्बर्ग तथा टालस्टाय आदि का प्रभाव देखा है और उसकी विस्तार मे पड़ताल भी की है। यह सही भी है कि उनके जीवन का उत्तरांश समाजवाद-प्रजातान्त्रिक समाजवाद—की व्याख्या, उसके भारतीय रूप और उसकी स्थापना के प्रयत्नो मे बीता। वह मार्क्स के जीवन दर्शन से प्रभावित हुए दीख पड़ते है, यह भी सही है। पर इतने से ही उनके विचारों की श्रेष्ठता, पूर्णता, और स्रोतों तथा आधारो का निर्णय पूरा नहीं होता। यह उनके जीवन की एकांगी व्याख्या होगी। उपाध्यायजी ने ठीक ही लिखा है कि "उनके पूर्व जीवन से पर-जीवन का जो सहज एवं समन्वित अंगांगि भाव था, उसे भी देखना होगा।" ऐसा करते ही हमे बड़ी जल्दी यह स्पष्ट हो जाता है कि 1933-34 तक जिस अवधि में उन्होने अध्यवसाय के साथ बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन पूरा कर लिया था, उसने उनके जीवन की वह सांस्कृतिक भूमि तैयार कर दी थी, जो एक उदार नैतिकता पर आधारित थी और जिसका परीक्षण 'बौद्ध दर्शन के तेज' में हो चुका था। आचार्यजी जिस संस्कृति से पूर्णत: परिप्लुत थे, उसकी हृदयग्राहिता तथागत की करुणा के अजस्र प्रवाह से अभिषिक्त हो चुकी थी।

यदि उन्होने पालि भाषा और व्याकरण तथा बौद्ध दर्शन का इतना गहन अध्ययन और मनन न किया होता तो मार्क्सवाद के नैतिक पक्ष की न तो इतनी चमत्कारी व्याख्या की होती और न ही भारत की प्राचीन आध्यात्मिक मान्यताओं को नई दृष्टि दी होती। बौद्ध दर्शन में मानव मन को समझने, उसका रहस्य उद्घाटित करने और उसमे होती हुई क्रिया-प्रतिक्रिया का विश्लेषण करने की दृष्टि मिलती है। उसमें व्यक्ति के द्वारा समाज के कल्याण, उसको समय के अनुसार बदलने और समझने की शक्ति मिलती है। वह शास्त्रवाद, वेदवाद और जातिवाद का भी विरोधी दर्शन है। ये सब मिलकर

पुरानी मान्यताओं को नवीन दृष्टि से देखने की शक्ति प्रदान करते हैं और मनुष्य को सदा ही मानवीय और सामाजिक धरातल पर रखते है। बहुतों का ऐसा विचार है कि यह दृष्टि उन्हे समाजवाद के अध्ययन से मिली। इसमें बहस करने की जरूरत नही। लेकिन किसी भी निर्णय पर पहुचने के पहले इस बात का स्मरण रखना जरूरी होगा कि उनके विचारों के पीछे बौद्ध दर्शन का ज्ञान कभी न तो धूमिल हुआ और न ही उससे विलग होकर उन्होने भारतीय संस्कृति का पर्यालोचन किया। उनके समाजशास्त्रीय विचारो और उनके द्वारा व्याख्यायित प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद में भी बौद्ध दर्शन के आदर्शों की स्पष्ट पहचान मिलती है। एक बात जो उनके बारे मे साधिकार कही गई है कि 'बौद्ध दर्शन पर आस्था रखते हुए भी वह अनीश्वरवादी नही थे' उनके स्वतंत्र चेता दार्शनिक होने का अटूट प्रमाण है। बौद्ध दर्शन मे बौद्धों के एक आदर्श का उल्लेख करते हुए गोपीनाथ कविराज कहते हैं, "निर्वाण या स्वदुख निवृत्ति मे लीन न होकर निरंतर जीव-सेवा में निरत रहना बोधिसत्व के जीवन का आदर्श है।" आचार्य नरेन्द्रदेव अपने लेख 'मेरा जीवन दर्शन' को समाप्त करते हुए आखिरी वाक्य लिखते हैं—"हमे दो विकल्प में से एक को चुनना है कि हम पूर्ण रूप से मानवता की सेवा करेंगे या केवल अपने संकीर्ण और वर्गास्मि हितो की रक्षा करेंगे? मेरे लिए आज सच्चे जीवन का तात्पर्य सामान्य हित के लिए सामाजिक पुनर्गठन के अर्थपूर्ण आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेना है।"

उनके ऊपर बौद्ध धर्म दर्शन का कितना प्रभाव था, इसकी एक झलक जगन्नाथ उपाध्यायजी के एक लेख मे मिलती है। वे लिखते हैं, "आचार्यजी का जीवन बौद्धो की नैतिक दृष्टि से बड़ा ही प्रभावित था। आर्य शांति देव के 'बोधिचर्यावतार' के हृदयग्राही पद्य उन्हे बड़े ही प्रिय थे। वे प्रायः अपने मित्रों को इसके पद्य सुनाया करते थे और पढ़ने के लिए प्रेरित करते थे। जो पद्य उनको बहुत प्रिय थे उनमें शान्ति देव के वे पद्य हैं; जिनका सारांश है कि 'जब समस्त लोक दु.ख से आर्त और दीन है, तो मैं ही इस रसहीन मोक्ष को प्राप्त कर क्या करूंगा।' शील का 'करुणा' मे विकास, कुशल बुद्धि का 'प्रज्ञा' में विकास और इन दोनों से व्यक्तित्व का निर्माण—बौद्धो की इस जीवन-दृष्टि से आचार्यजी बहुत ही प्रभावित थे। व्यक्तित्व की शून्यता और समाज की सत्ता का बौद्ध सिद्धांत उनके चिन्तन का विषय सदा बना रहा।" आचार्यजी

की मान्यता थी कि "नैतिकता और आध्यात्मिकता की जो तर्क-सम्मत और हृदयग्राही व्याख्या बौद्धों ने की है, उससे व्यक्ति में अंध परम्परा से विमुक्त, संस्कृति के निरीक्षण की शक्ति आती है।" आचार्यजी की नैतिकता इसी सुदृढ़ दार्शनिक व्याख्या के आधार पर प्रकट हुई। इसी के आलोक में उन्होंने प्राच्य-प्रतीच्य विभिन्न नैतिक व्याख्याओं का पर्यालोचन किया था और उनके मस्तिष्क में भारतीय संस्कृति का एक अपूर्व चित्र बना था। इस संस्कृति के आधार पर समाजवाद के अध्ययन ने आचार्य नरेन्द्रदेव को समाजवाद की नैतिक व्याख्या करने के लिए बाध्य किया। आचार्यजी की यह सांस्कृतिक प्रतिमा भारतीय समाजवाद में प्रतिफलित हुई। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति की, और मार्क्स के समाजवाद की भारतीय दृष्टि से व्याख्या की और मार्क्सवाद तथा भारतीय संस्कृति में केवल "अविरोध ही नहीं, अनिवार्य समन्वय भी स्थापित किया।"

'बौद्ध धर्म-दर्शन' उनका इस विषय का स्वतंत्र ग्रंथ है। इस ग्रंथ की भूमिका में पं० गोपीनाथ कविराज कहते है कि ऐसा ग्रंथ हिन्दी भाषा में तो क्या, किसी भारतीय भाषा में भी नहीं है। मैं समझता हूं कि किसी विदेशी भाषा में भी ऐसा ग्रंथ नहीं है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता और अद्वितीयता इससे भी स्पष्ट होती है कि उन्होंने इसके लेखन में बौद्ध दर्शन के मूल ग्रंथों से प्रत्यक्ष सम्बंध रखा है और बौद्ध धर्म तथा दर्शन का सही साक्षात्कार कराने के लिए बौद्ध शब्दावली और शैली को भी अपनाया है और उन्हें यथावत् सुरक्षित रखा है। गोपीनाथजी ने लगता है अपने संस्कृत वाङ्मय के सम्पूर्ण ज्ञान के आधार पर ही यह भी कहना उचित समझा कि "बौद्ध दर्शन के उपलब्ध संस्कृत ग्रंथों में भी कोई एक ऐसा ग्रंथ नहीं है, जिसके द्वारा बौद्धों की समस्त शाखाओं के सिद्धांत का ज्ञान हो।" यह सत्य जान लेने के बाद यह जरूरी हो जाता है कि इस ग्रंथ की रूपरेखा का भी थोड़े में परिचय दे दिया जाए। पांच खंडों और 20 अध्यायों के इस ग्रंथ में स्थविरवाद की साधना, बौद्ध दर्शन की सामान्य मान्यताएं, बुद्ध का मूल उपदेश-प्रतीत्य समुत्पादवाद, बुद्ध-दर्शन की भाषा और उसका विस्तार, निकाय विस्तार, अनीश्वरवाद, निर्वाण की व्याख्या, विनाशवाद, शून्यवाद का विशद परिचय आदि का विस्तारपूर्वक पर्यालोचन तो है ही, साथ ही आचार्य वसुबंधु के अभिधर्म कोश का संक्षेप—इसका पूरा अनुवाद अन्यत्र किया है—आर्य असंग के 'महायान सूत्रालंकार' का भाषानुवाद, ह्वेन सांग की

'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' पर एक विस्तृत निबध, आचार्य चद्र कीर्ति की 'प्रसन्न पदावृत्ति' का संक्षिप्त अनुवाद भी इस ग्रथ मे उपलब्ध है। जो भाज की दृष्टि से भी और विषय की दृष्टि से भी अति महत्वपूर्ण है। इस ग्रथ के पाचवें खड मे बौद्ध न्याय का विवेचन करते हुए उन्होंने आकाश, दिन और काल पर एक अभूतपूर्व अध्याय जोडा है।

इस ग्रंथ के अतिरिक्त भी उनका बौद्ध दर्शन को हिन्दी भाषा मे सुलभ कराने मे बहुविध योगदान रहा है। उन्होने कुछ बौद्ध ग्रंथों का अविकल अनुवाद भी किया है। अनुवाद कार्य प्राय बडा नीरस और कष्ट साध्य होता है, पर आचार्यजी की निष्ठा इस धर्म और दर्शन के प्रति इतनी प्रगाढ थी कि उन्हे इस कार्य में भी सुख मिला। जैसा कि ऊपर कहा गया, उन्होने वसुबधु के 'अभिधर्म कोश', जो सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रथ है, का अनुवाद किया। इस ग्रथ का बौद्ध संसार में बडा आदर है, क्योकि वसुबंधु ने अपने इस भाष्य के साथ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का भी मत दिया है। यह अनुवाद आचार्यजी के बौद्ध दर्शन की गहरी समझ और पांडित्य का ज्वलत उदाहरण उपस्थित करता है। इसके अतिरिक्त उन्होने विज्ञानवाद के महत्वपूर्ण ग्रंथ का भी हिन्दी अनुवाद किया है। इसके हिन्दी अनुवाद से विज्ञानवाद के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उन्होंने पालि भाषा मे लिखे गए अभिधम्मत्थ सगहो (अभिधर्म मत सग्रह) का भी हिन्दी अनुवाद किया और साथ ही क्षेमेन्द्र के प्राकृत व्याकरण का भी हिन्दी अनुवाद करते हुए अपनी टीका भी उस पर लिखी। पर खेद है कि ये दोनों ही ग्रंथ प्रकाशन के पूर्व ही खो गए। यह अपूरणीय क्षति हिन्दी भाषा आज तक सह रही है और सदा सहती रहेगी, क्योकि उनके जैसा विद्वान अब शायद ही उत्पन्न हो। उनका एक और आग्रह, इच्छा और उत्कंठा थी कि बौद्ध दर्शन पर लिखी फ्रेंच भाषा में उपलब्ध सभी कृतियो का अनुवाद प्रस्तुत किया जाए। यदि ऐसा हो सका होता तो बौद्ध धर्म-दर्शन का मार्ग बहुत ही प्रशस्त हो गया होता। किन्तु अपनी श्रद्धाजलि मे जैसा जगन्नाथ उपाध्यायजी ने लिखा है..."उनके निधन से राजनीतिक क्षेत्र मे चाहे जितनी बडी क्षति हुई हो, किन्तु बौद्ध दर्शन के विषय की निश्चय ही अपूरणीय क्षति हुई।" उनके घनिष्ठ मित्र और सहयोगी सम्पूर्णानंद और उनके जैसे कई और साथियो ने आचार्यजी से कई बार कहा कि "देश को राजनीतिज्ञ बहुत मिल जाएगे, पर आप जैसा विद्वान नही मिलेगा। आप जो कुछ लिख जाएंगे, वह देश के लिए तथा विद्वत् समाज के लिए आपकी अपूर्व देन होगी।"

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता

संस्कृति से आमतौर पर किसी देश के निवासियों का आचार-व्यवहार, उनके रहन-सहन का तरीका, उनके पहनावे, उनका खान-पान, रस्म-रिवाज, राग-रंग आदि और इसी प्रकार के अन्य विषयों से अर्थ लिया जाता है। बहुधा यह देखा जाता है कि विशेष अवसरो पर जब कभी किसी प्रकार के नाच-गाने, यहां तक कि साहित्यिक विधाओ में नाटकादि का आयोजन होता है तो उन्हें भी सांस्कृतिक कार्यक्रम की संज्ञा दे दी जाती है। अनुष्ठानिक कृत्य भी संस्कृति में शामिल कर लिए गए हैं। घरो में भित्तियो पर बनने वाले चित्र या अलंकरण संस्कृति में शामिल कर लिए जाते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि दया-दक्षिणा जैसे धर्माचरण को भी संस्कृति की विशेषता मान ली जाती है। इस प्रकार की सूची बनाने पर यह बहुत लम्बी हो सकती है किन्तु यदि इन सब व्यवहारों; प्रवृत्तियों और रुचियों को ध्यान से देखा जाए तो इसके पीछे विचारो की एक लम्बी सरणि तथा एक दीर्घकालीन परम्परा दिखाई देती है। यह सारे कृत्य न केवल उस देश के निवासियों के विचार पक्ष के संवाहक होते हैं वरन् अपने सातत्य के लिए उन विचारों से पोषित भी होते रहते हैं। यह भी सही है कि उनका उद्भव उस देश की भौगोलिक स्थिति के कारण होता है। संस्कृति के अंतर्गत आने वाले जिन बाह्य उपादानों की चर्चा ऊपर हुई है, और जैसा कहा गया कि उनमे और बहुत कुछ जोड़ा भी जा सकता है, उस सबको मिलाकर भी, भौगोलिक स्थिति के कारण, सभी पर समान रूप से लागू नहीं होता। कुछ में उसका अपवाद भी होता है। लेकिन जिस एक तत्व से संस्कृति के सभी बाह्य उपादान आवृत्त और अनुप्राणित होते रहते हैं, वह है उस देश के निवासियो की विचार शक्ति और उसकी परम्परा। इस प्रकार के विचार जब समय की कसौटी पर कसे जाते हैं और बहुत कुछ शास्त्रार्थ के बाद जो एक निश्चित रूप लेते हैं तब उनका सामाजिक जीवन से सम्बध कायम होने लगता है। फिर भी जब तक इन विचारों की स्वीकृति समाज से नहीं मिलती,

अर्थात् जब तक समाज उन विचारो के अनुसार आचार-विचार नहीं बदलता, तब तक उन विचारो की अवस्थिति को आधार नही मिलता। इसका दूसरा अर्थ यह भी हुआ कि इस प्रकार के विचारो को पल्लवित होने के लिए लोक-भूमि के आधार की आवश्यकता पड़ती है।

इन बातो से इतना और स्पष्ट हुआ कि सस्कृति के इन बाह्य उपादानो के विश्लेषण में संस्कृति के दो स्तर होते है। एक को हम लोक सस्कृति कहने लगते हैं और दूसरे पक्ष को किसी एक नाम से विहित करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। नरेन्द्रदेवजी संस्कृति के इस पक्ष पर विचार करते हुए उसका एक नया और सार्थक पक्ष उजागर करते हैं। वह कहते है कि "जब कोई दार्शनिक मत सुपल्लवित होता है तो उसका जीवन से घनिष्ठ सम्बंध होता है।" जैसा कि ऊपर कहा गया कि इस प्रकार से प्रतिपादित और पल्लवित विचारो के द्वारा विचारको और जन साधारण के बीच मे एक सम्बंध-सेतु बनता है। एक दूसरे के बीच वैचारिक आदान-प्रदान की सरणी-सी बन जाती है। दार्शनिको के गूढ़तम विचारों की प्रतिच्छाया सरलतम रूप से समाज के आचार-व्यवहार और अनुष्ठानों मे, जिन्हे संक्षेप में कहे तो लोकाचारो मे मिलती है। आचार्यजी ने इस सम्बध मे एक बहुत बड़ी और सारगर्भित बात कही है। वह कहते हैं कि "जब विचार-सरणी मे कोई मौलिक परिवर्तन होता है तो वह कोरे पाडित्य से उत्पादित नहीं होता, किन्तु उसके गम्भीर कारण समाज में निहित होते हैं। इसके उदाहरण मे वह बौद्ध धर्म के महायान और हीनयान के अंतर और पार्थक्य को उपस्थित करते हैं और इसका सामाजिक कारणो की ओर सकेत करते हैं। उनकी यह व्याख्या और उनकी यह दृष्टि बौद्ध धर्म के गहन अध्ययन के कारण भले ही बनी हो किन्तु सस्कृति के क्षेत्र में जिस सत्य विशेष को वे उद्भासित कर गए, वह यह कि संस्कारो के अथवा संस्कृति के बनने मे जितना महत्व और योग उस देश के दार्शनिक विचारो का होता है, उतना ही बडा कारण उस देश के समाज में भी निहित है। समाज की यह प्रतिष्ठा, लोक मत का यह योगदान आचार्यजी की विशेष दृष्टि मानी जानी चाहिए।

संस्कृति शब्द पर विचार करते हुए उन्होने यद्यपि उसे अंग्रेजी भाषा के 'कल्चर' से समीकृत होने पर कोई आपत्ति नही की है, फिर भी ऐसा लगता है कि वह भाषा की शक्ति को और उसके प्रभाव को पहचानते रहने के कारण

दोनों को एक दूसरे के साथ समीकृत करने मे संकोच करते हैं और उसमे अनर्थ की वैसे ही शका करते हुए जान पडते हैं, जैसे धर्म का 'रिलीजन' से समीकृत होने के कारण अनर्थ हुआ है। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि उन्होंने इसी संदर्भ में सस्कृति के एक दूसरे पर्याय का उल्लेख किया है, जो प्राचीन आर्य शब्द है और जिसका व्यवहार रवि बाबू ने किया है। यह शब्द 'दृष्टि' है। आचार्यजी मानते हैं कि "संस्कृति शब्द की व्याख्या करना कठिन है। यदि हम शाब्दिक अर्थ ले तो हम कह सकते हैं कि संस्कृति चित्त भूमि की खेती है। चूंकि कर्म में मन या चित्त की प्रधानता है; अत. यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्त अच्छा है, उसकी वाणी और उसकी शरीर चेष्टा भी सुसंस्कृत होगी। जिस प्रकार की हमारी दृष्टि होगी उसी प्रकार का हमारा क्रियाकलाप होगा।" इससे स्पष्ट होता है कि आचरण का कारण वह आचरणकर्ता की दृष्टि मे देखते हैं, जो उसे अपने समय या कि पहले से चली आती हुई सुव्यवस्थित और निर्दिष्ट विचार परम्परा से मिलती है। जैसा कि ऊपर कहा गया, ऐसा मानते हुए भी वे लोक को अलग नही कर सके। दार्शनिक विचारो की ऊंची भूमिकाओं का विचार करते हुए भी वह लोक चित्त की बात करते रहते हैं। कहते हैं, "प्राचीन काल में एक सुवासित चित्त के लिए इतना ही सम्भव था कि वह व्यक्तिगत रूप से विश्व के अखिल पदार्थों के साथ तादात्म्य स्थापित कर और जीव मात्र के लिए मैत्री और अद्वेष की भावना से वासित हो, किन्तु उसके कार्य करने का क्षेत्र बहुत संकुचित था। अतः कार्य रूप मे यह भाव एक छोटे क्षेत्र में प्रयुक्त हो सकता था।" किन्तु सस्कृति एक डबरे का जल नही होती, उसे अपने विकास और प्रकाश के लिए एक व्यापक भावभूमि की आवश्यकता पडती है। अपनी व्यापकता में ही वह अपना 'सस्कृति' नाम सार्थक करती है। इसको स्पष्ट करने के लिए ही आचार्यजी कहते है कि "व्यक्तियो के चित्त के साथ-साथ एक लोक चित्त भी बनता रहता है।" व्यक्ति, व्यक्ति विशेष अर्थात् विचारक, या दार्शनिक की असहायावस्था के निवारण के लिए ही, उसको आगे सोचने के लिए प्रेरणा देने के लिए ही, लोक चित्त बनता है, बनता रहता है।

संस्कृति की व्यापकता और उसका एक रूप होकर समाज मे प्रतिलक्षित होने की अवस्था का सकेत करते हुए वह कहते हैं, "मनुष्य सामाजिक है, क्योकि समाज में रहने से ही उसके गुणो का विकास होता है। अतः समाज मे

कई बातो मे समानता उत्पन्न होती है। समूहों का विस्तार होता रहता है और एक समय आता है जब राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से प्रेरित हो एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोग कुछ बातों में अपनी समानता और एकता का अनुभव करते हैं।" सांस्कृतिक एकता की प्रक्रिया का यह स्पष्टीकरण और यह व्याख्या आचार्यजी की अपनी देन है। इस एक वाक्य मे भौगोलिक परिवेश को कार्य-कारण सम्बंध मानते हुए वह भौगोलिक सीमा का जिक्र करते हैं। यह राष्ट्रीय संस्कृति हुई। इस व्याख्या में वह क्षेत्रीय विशिष्टताओ को स्वीकार करते हुए उसके राष्ट्रीय पक्ष पर ही बल देते हुए दिखाई देते हैं। संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलने की आवश्यकता पर शायद जोर देने के लिए ही वह आगे कहते हैं "एकता की भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है और 'एक विश्व' की भावना की ओर अग्रसर होती है। जिन बातो में समानता उत्पन्न होती है, उन्ही के आधार पर लोक चित्त भी बनता है। आज विविध राष्ट्रो का अपना-अपना लोक चित्त भी है। क्योंकि आज एक ही प्रकार के अनेक आचार-विचार सारे विश्व में प्रचलित हो रहे हैं, इसलिए कुछ बातो में विविध राष्ट्रों के लोक चित्त भी समान होते जाते हैं।" उनके इस कथन मे, संस्कृति की उद्भावना में, उसके विकास और प्रसार में, विचार की प्रधानता होती है। यह स्पष्ट किया गया है और इन्ही के आधार पर बनने वाले आचार-विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से संस्कृति प्रसार की बात कही गई है और इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा हुई है कि क्षेत्रीय विशिष्टताओ के रहते हुए भी संस्कृति या संस्कृतियां निरंतर विकास करती रहती हैं, एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं, और उनमे एकत्व की स्थापना करती हैं और इस प्रकार क्षेत्रीय सीमाओं से निकलकर एक विश्व और उसमे रहने वाले प्राणियों के कुटुम्ब की कामना को साकार करती रहती हैं।

संस्कृति के सम्बध मे विचार करते समय ऐसा लगता है कि आचार्यजी को उसमे ह्रास के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे और उससे उनका चित्त दुखी हो रहा था। जब किसी चीज का ह्रास होता है तो बरबस ही ध्यान उसके मूल रूप की ओर जाता है, साथ ही उसका वर्तमान स्वरूप भी सामने बना रहता है। इस मूल रूप और वर्तमान स्वरूप में काल का जो अंतराल है, एक जो लम्बी अवधि बीत चुकी होती है, इसमें संस्कृति के निरंतर बनते हुए रूप में जाने

कितने तत्वों का योगदान हो चुका होता है, किन्तु ह्रास उसी व्यक्ति को दिखाई पड़ेगा जिसे उसके पूर्व रूप और उसके बाद की रचना-प्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान हो। प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन, मनन ही नहीं, वरन् अर्वाचीन भारतीय इतिहास के साथ जुड़ी हुई सांस्कृतिक विकास की अविच्छिन्न परम्परा को देखने और समझने की उनकी दृष्टि बड़ी उज्ज्वल थी। पाश्चात्य दर्शन और संस्कृतियों का अध्ययन भी उनका बड़ा गहन और व्यापक था। इससे उन्हें एक तुलनात्मक दृष्टि मिली हुई थी जिसके कारण उनको संस्कृति के ह्रास का न केवल चिह्न दिखाई पड़ रहा था वरन् उसके कारण को भी वह देख रहे थे। इस सम्बंध में अपने मन की व्यथा को प्रकट करते हुए वह कहते है, "आज व्यक्तिगत चित्त और लोक चित्त को सुवासित करने की आवश्यकता है। आज के युग की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जो जीवन के मूल्य और पुरुषार्थ के उद्देश्य तथा लक्ष्य निर्धारित होते हैं, उन्हीं के अनुकूल चित्त को सुवासित करना चाहिए। एशिया के कुछ देश आज राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावना से प्रभावित हो रहे हैं। यही शक्तियां उन देशों के आचार-विचार को निश्चित करती है और आज उनका कार्य सर्वत्र देखा जाता है।" ऐसा कहकर वह राष्ट्रीय एकता और जनतंत्र की भावना के पोषण और प्रसार का आह्वान करते हैं। उनको स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि खान-पान, रहन-सहन और भाषा आदि के कारण संस्कृति के बाह्य उपादानों को लेकर किस प्रकार संकुचित भावनाओं को जन्म दिया जा रहा है और उनका प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। उन भावनाओं से उन्हीं के देश की अखंडता के लिए खतरा पैदा हो रहा था और यही कारण है कि उन्होंने खुलकर कहा, "किन्तु कुछ प्रतिगामी शक्तियां पुराने युग की प्रतिनिधि बनकर इन नवीन शक्तियों के विकास की गति को रोकती है और हमारे जीवन को अवरुद्ध करती हैं। यह शक्तियां युग के धर्म के विरुद्ध खड़ी हुई हैं और जीवन-प्रवाह को अतीत की ओर लौटाना चाहती है। हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक सोते में बंद करना चाहती हैं और उसी की एक अविच्छिन्न धारा से हमको पृथक् करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को उन शक्तियों को पहचानना चाहिए और उनका विरोध करना चाहिए।"

लोक को अथवा समाज को संस्कृति का आधार मानते हुए वह लोक जीवन को इतना ऊपर उठाना चाहते है कि व्यक्तिगत चित्त और लोक चित्त

मे सामजस्य स्थापित हो जाए। तब लोक चित्त देश के दार्शनिक विचारो से सुवासित हो जाएगा। इस सदर्भ मे सोचते-विचारते और बातचीत करते समय दार्शनिक विचारो का भी संकुचित अर्थ नहीं लगाना चाहिए। किसी भी देश का धर्माचरण उसके दार्शनिक विचारो के कारण ही बनता है और उसी के आधार पर समाज की सुव्यवस्था दृढ़ होती है तथा उसी के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था अपना आकार ग्रहण करती है और राज व्यवस्था के सिद्धात निश्चित होते है। उन्हीं के आधार पर अर्थव्यवस्था कायम होती है जो समाज को निरंतर आर्थिक दृढ़ता की ओर अग्रसर करती रहती है। अतः इस व्यापक अर्थ में पूरे देश और समाज को देखने पर समाज को निरंतर सांस्कृतिक उत्थान और एकता की आवश्यकता पडती है। इसके लिए आचार्यजी विज्ञान की भूमिका को बहुत अहम मानते हैं। वह कहते हैं कि "विज्ञान ने नई शक्तियो को उन्मुक्त किया है। उन्होंने मानव को एक नया स्वप्न दिया है और उसके सम्मुख नए आदर्श, नए प्रतीक और लक्ष्य रखे हैं। अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान के आलोक मे समाज का कलेवर बदल रहा है, अतर्राष्ट्रीयता के नए साधन और उपकरण प्रस्तुत हो रहे हैं। एक भावना सकल विश्व को व्याप्त करना चाहती है और नए सामंजस्य की ओर ससार बढ़ रहा है। यह शक्तिया सफल होकर रहेंगी क्योंकि यह युग की माग को पूरा करना चाहती हैं।" पर जब वह अपने देश की अवस्था की ओर दृष्टि डालते हैं और देखते है कि न तो व्यक्ति की और न लोक चित्त की भारतीय दर्शन मे कोई आस्था है, तब उन्हे मार्मिक कष्ट होता है और वह कहते हैं कि "जब तक हमारी शिक्षा प्रणाली मे आमूल परिवर्तन नही होता और उसमे तथा जीवन में विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिलता, तब तक दर्शन मे हमारी आस्था नही होगी।" इसका एक मात्र इलाज विज्ञान की शिक्षा का प्रसार है और यह काम देश मे उद्योग व्यवसाय के बढने से ही हो सकता है। यूरोप मे दार्शनिक विचार मे जो प्रगति हुई है, उसका इतिहास शृंखलाबद्ध है। हम उन्नति की दिशा को जान सकते हैं। किन्तु हमारे देश ने आधुनिक ज्ञान को प्राचीन ज्ञान से नहीं बाधा है। उनका परस्पर सम्बध भी जानने की चेष्ठा नही की है। इस विशृंखलता के कारण ज्ञान असम्बद्ध रहता है और उससे पूर्व और पर का ज्ञान नही होता। इस ज्ञान को जीवन से सम्बद्ध करने की भी चेष्टा नहीं है। इन त्रुटियो के कारण किसी कार्य मे गम्भीरता नही रहती।

संस्कृति के सम्बध में व्याख्या करते हुए वह कहते है कि "हमको यह न भूलना चाहिए कि जीवन के साथ-साथ सस्कृति बदलती रहती है। जीवन स्थिर और जड नही है। इसीलिए संस्कृति भी स्थिर और जड़ नही है। समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते हैं और साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन भी बदलता रहता है। हमारे देश मे समय-समय पर अनेक जातिया बाहर से आईं और यहां के समाज में घुल-मिल गईं। वह अपने साथ आचार-विचार लाईं। उन्होंने यहां के आचार-विचार स्वीकार किए और अपने कुछ आचार-विचार हमको दिए। सम्पर्क मे संस्कृतियो का आदान-प्रदान होता है।" वह संस्कृति को धर्म से समीकृत नही करते और न इसे उचित ही मानते हैं। इसे वह अज्ञान और सकीर्णता मानते हैं। इसकी व्याख्या वह इस प्रकार करते हैं "प्राचीन काल में जब धर्म-मजहब समस्त जीवन को व्याप्त और प्रभावित करता था, तब संस्कृति के बनाने में उसका भी हाथ था। किन्तु (तब भी) धर्म के अतिरिक्त भी अन्य कारण और हेतु सांस्कृतिक निर्माण में सहायक होते थे। किन्तु आज मजहब का प्रभाव बहुत कम हो गया है।" यहां वह धर्म शब्द को छोड़ देते हैं। उन्होंने धर्म को मजहब से समीकृत नही किया। कोई भी विचारवान व्यक्ति पूंजीवाद या पद्धति को धर्म से अभिहित नही करता। धर्म और धर्माचरण का राष्ट्रीयता से विरोध नहीं है। धर्माचरण समाज और देश के उत्थान और समृद्धि के लिए आवश्यक है। सांस्कृतिक उत्थान और विकास के लिए भी आवश्यक है। उनका कहना है कि "हमारे देश में दुर्भाग्य से लोग संस्कृति को धर्म से अलग नही करते हैं। इसका कारण अज्ञान और हमारी संकीर्णता है। हम पर्याप्त मात्रा मे जागरूक नही है।" उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए एक जगह लिखा है कि "भारतीय धर्म एक उदार और विशाल धर्म है। यह सम्प्रदाय विशेष का नहीं है।...जिस भारतीय धर्म का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, वह ऐसा नही है। उसका न कोई आदि प्रवर्तक है, और न उसके कोई ऐसे अनुष्ठान या कृत्य विशेष हैं, जिनको हम उसका लक्षण ही बता सकें। उसका कोई एक पवित्र ग्रंथ भी नहीं है, जिसको वह एक मात्र प्रमाण माने। वह दूसरो के पवित्र ग्रंथो को अपना लेता है, यही कारण है कि उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। जैसे ब्रह्म के लिए हम नेति-नेति कहते हैं, वैसे ही इसके लिए भी इतना ही कह सकते हैं कि यह अमुक धर्म नही है, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह क्या है। इसका कोई

स्थिर रूप नहीं है। इसमे सदा विकास होता रहता है। यद्यपि हम इसका लक्षण नहीं बता सकते तथापि हम इसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं।"

इस प्रकार वह संस्कृति को धर्म से अलग रखकर जागरूक रहने और उन शक्तियो को पहचानते रहने का आग्रह करते हैं, जिनके प्रभावों से संस्कृति बनती है और सतत् विकासशील होती है। पर साथ ही वह सचेत भी करते हैं कि जहा युगधर्म को पहचानकर सामजस्य और समन्वय की तलाश बनी रहनी चाहिए और साहस और सुविवेक से काम लेना चाहिए, वहीं परिवर्तन का यह अर्थ कदापि नही है कि अतीत की सर्वथा उपेक्षा की जाए। ऐसा हो भी नही सकता। अतीत के वह अश जो उत्कृष्ट और जीवनप्रद हैं उनकी तो रक्षा करनी ही है, किन्तु नए मूल्यों का हमको स्वागत करना होगा तथा वह आचार-विचार, जो युग के लिए अनुपयुक्त और हानिकारक हैं, उनका परित्याग भी करना होगा तभी भारतीय संस्कृति सतत् प्रवहमान और स्वस्थ रहेगी।

विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के बारे मे जो जानकारी उसकी शरीर रचना के बाह्य प्रभाव से मिलती है, वह बडी स्थूल होती है। जिससे मन मे कभी आदर, श्रद्धा, विश्वास जैसे भाव भी पैदा होते हैं तो उसी के विपरीत, भय, आशंका, अविश्वास जैसे भाव का भी उदय हो सकता है। किन्तु नरेन्द्रदेवजी के व्यक्तित्व की पहचान उनकी शरीर रचना की दृष्टि से कुछ और ही प्रकार की बनती थी। देखने में हलके-फुलके और हवा से बातें करते हुए-से नरेन्द्र-देव प्रत्यक्षतः उस सरल और चपल बालक का-सा आभास देते थे, जो अपने प्रति स्नेह-वलयित आकर्षण पैदा करता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह चपलता उनके शरीर के हलके-फुलके होने के कारण बनी रहती थी। वस्तुतः उनके जीवन के उत्तरार्द्ध का बहुत अधिक भाग तो दमे की बीमारी मे ही बीता था। उनकी चपलता तो उनकी कुशाग्र बुद्धि और शरीर के रोम-रोम से निकलती हुई अपूर्व मेधा के विद्युत्कण थे, जो उनके व्यक्तित्व के प्रति विशेष आकर्षण पैदा करते थे, और इसीलिए उनका शरीर उन विद्युत्कणों से झंकृत होता हुआ सदा चपल दिखता रहता था। सरलता इसलिए कि जगत के ज्ञान-भडार मे सचित अमूल्य निधि के बड़े-से-बडे ढेर, चाहे वे विशालकाय चट्टानो के सदृश गुरु रहे हो, अथवा अपनी जटिलता मे गहन वनों के समान अभेद्य रहे हों, सब उनकी मेधा में पच कर जब उनसे बाहर प्रकाश मे आते, तब वे सब जल के समान तरल और सरल प्रतीत होते। कहने का तात्पर्य यह नही कि जगत के समस्त ज्ञान को वह आत्मसात् कर चुके थे, पर यह कहना शब्दश: सही होगा कि ज्ञान की जिस भी शाखा की ओर आकृष्ट होकर उन्होंने उसे छूने की कोशिश की, वह उनकी पहुच में आ गई और उनके द्वारा प्राप्त करने वालों के लिए उस ज्ञान की अभिव्यक्ति अत्यत सुगम और बोधगम्य बन गई। इस कारण भी उनके व्यक्तित्व में एक ऐसा निखार आया, जिसकी चमक से छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित सभी आकृष्ट होते रहे। उनके

व्यक्तित्व का यह चपल और सरल पक्ष बहुत प्रधान था। इसी कारण उनके निकट जाने में अनपढ़ व्यक्ति को भी भय नहीं लगता था और बड़ा-से-बड़ा विद्वान भी आदर भाव से उनके पास पहुंचता था। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उनके समकक्ष किसी विद्वान के मन में न तो ईर्ष्याजन्य दर्प का भाव उत्पन्न करती थी और न ही अनपढ़ व्यक्ति को अज्ञानजन्यहीनता से ग्रसित होने का अवसर देती थी। उनकी यह बड़ी भारी विशेषता थी कि विद्वानों से बातचीत करते समय उनके प्रत्येक वाक्य से बड़े सहज रूप में यह प्रभाव भी उत्पन्न होता रहता था कि इतना ही नहीं है, यदि और कुछ भी जानना चाहोगे तो इससे अधिक भी उपलब्ध है। पर इस आदान-प्रदान की पहली शर्त यह थी कि उनके साथ विचार-विमर्श करते हुए व्यक्ति को अपनी अहमन्यता अलग रखकर सख्यभाव से ही उनके समीप जाना पड़ता था। उनके सम्मुख ताल ठोककर जाने वाले विद्वान को अपनी लंगोट ढीली होती हुई प्रतीत होती थी।

इस सम्बंध में एक बड़ी रोचक घटना की याद आती है। लखनऊ के पुराने विधायक निवास में, जिसे उन दिनों 'ओल्ड कौंसिलर्स रेजीडेंस' कहा जाता था। रात में बड़े नाटकीय ढंग से महावीर त्यागीजी ने श्री वेंकटेश नारायण तिवारी के कमरे में हांफते हुए प्रवेश किया। तिवारीजी ने आश्चर्य से पूछा कि भाई कहां से भागे आ रहे हो? क्या बात हुई? त्यागीजी ने कहा, "पंडितजी क्या कहूं, बड़े संकट में फंस गया था। एक चक्की के दो भारी-भारी पाटों में फंसकर पिस रहा था। निकलने की कहीं से गुंजाइश नहीं मिल रही थी। बड़ी मुश्किलों से एक जगह जरा-सी दरार मिली और मैं भाग आया हूं।" तिवारीजी ने कहा कि बात को जरा साफ समझाइए, पहेली बुझाने से काम नहीं चलेगा। आपका संकट क्या है? उन्होंने कहा, "मैं गलती से शाम को उस कमरे में चला गया, जहां सम्पूर्णानंद और नरेन्द्रदेवजी बैठे हुए समाजवाद पर चर्चा कर रहे थे। मैंने सोचा कि दो विद्वानों के बीच में बैठकर मैं इस विषय में कुछ जान पाऊंगा। शुरू में तो उनके वाद-विवाद का कुछ अंश समझ में आया भी, परंतु धीरे-धीरे उनका पूर्व संचित ज्ञान पारिभाषिक शब्दों में तर्क के सहारे कुछ ऐसा वृहत् होता गया कि मेरी समझ के बिलकुल बाहर हो गया। एक से एक भारी भरकम चट्टानों के सदृश शब्दावली में वे तर्क के पहाड़ एक-दूसरे पर फेंके जा रहे थे। दोनों योद्धाओं में से कोई भी किसी को कहीं रुकने

का अवसर ही नहीं दे रहा था। ज्ञानवृद्ध नेताओं के बीच से सहसा उठ आना भी उनके प्रति अश्रद्धा का भाव प्रकट करना होता। उनके चर्चा के विषय को गूढ़तम होता देखकर मैं भौचक्का हो रहा था। मेरी स्थिति उस दाने के समान हो गई थी जो चक्की के दो पाटों के बीच पिसता हुआ निकलने की राह न पा रहा हो।" यह सुनकर तिवारीजी बड़े जोर से खिलखिला उठे। उन्होंने कहा कि तुम्हें वहां जाने के लिए किसने कहा था।

यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी उनके सम्मुख आने पर हीनता से ग्रसित नहीं होता था। वह उसकी सुख-दुख की बात वैसे ही सुनते, जैसे कोई सगे-सम्बंधियों की बात सुनता है। बातों का विषय चाहे जो भी हो, कहने वाले व्यक्ति के मन में यह बात कभी नहीं पैदा होती थी कि मैं उनके लिए अप्रासंगिक हूं, निरर्थक हूं अथवा उनके काम में व्यवधान बनकर आया हूं। उनकी यह तीव्र संवेदनशीलता अक्सर उनके लिए बड़े कष्ट का कारण बनती। किन्तु उनके चेहरे पर कभी भी शिकन नहीं आई। ऐसी एक घटना श्रीप्रकाशजी ने लिखी भी है, जिसे वह अक्सर सुनाया भी करते थे। घटना उस समय की है जब उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य के रूप में नरेन्द्रदेव पुराने विधायक निवास में रह रहे थे। उन्हीं दिनों कांग्रेस के किसी काम से श्रीप्रकाशजी लखनऊ आए थे। अक्सर वह उन्हीं के साथ ठहरा करते थे। चूंकि उन दिनों विधायकों के निवास में रहने के लिए केवल एक ही कमरा मिलता था, अत: श्रीप्रकाशजी बरामदे में सोते। प्रातः काल उठकर, सम्भवत: 5 या 6 के बीच वह उनके कमरे में गए तो देखा कि आचार्यजी तकिया के सहारे बैठे हैं और सांस लेने में कष्ट का अनुभव कर रहे हैं। स्पष्ट था कि उन्हें दमे का दौरा पड़ा था। उस समय उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि इतने सवेरे, ऐसी हालत में भी एक सज्जन उनके बिस्तर के किनारे बैठे हुए अपने स्वार्थ-साधन में उन्हें साधक बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। वह चाहते थे कि आचार्यजी उनके मामले में हस्त-क्षेप करें। उन्हें 'वह' दिला दें जो उन्हें नहीं मिल रहा था या कि मिल सकता था। यद्यपि श्रीप्रकाश ने उस व्यक्ति का नाम नहीं बताया और न उस विषय को ही खोला, परंतु ऐसा लगता है कि वह चुनाव के टिकट सम्बन्धी बात थी। बात जो भी रही हो, लेकिन श्रीप्रकाशजी को यह देखकर बड़ा दु:ख हुआ और उन्होंने उस व्यक्ति को इशारा भी किया कि यह उचित अवसर नहीं है।

लेकिन वह व्यक्ति फिर भी आत्मप्रशंसा में डूबे हुए बार-बार अपनी बात नरेन्द्रदेवजी से दोहराते रहे। सांस के कष्ट से पीड़ित होते हुए भी नरेन्द्रदेवजी उन्हे आश्वस्त कर रहे थे कि वह यथाशक्ति उनकी सहायता का प्रयास करेंगे। उनका आश्वासन पाकर भी वह सज्जन वहां से नहीं उठे और फिर से अपनी रामकथा शुरू कर दी। जब श्रीप्रकाशजी से उस व्यक्ति का दुस्साहस भरा आचरण नही सहा गया, तब उन्होंने डाटते हुए कहा कि आपको शर्म नही आती ? आप नरेन्द्रदेवजी की अस्वस्थता को देखने हुए भी उनके पीछे पडे हुए हैं। यह सुनकर वह सज्जन नरेन्द्रदेवजी की ओर मुडे और बोले "अच्छा आप स्वस्थ नही है ?" अब श्रीप्रकाश से नही रहा गया और उन्होने उस व्यक्ति को कमरे से बाहर निकाल दिया। श्रीप्रकाश के ऐसा करने पर और उस व्यक्ति के बाहर चले जाने पर नरेन्द्रदेवजी ने श्रीप्रकाश से बडी विनम्रता से कहा कि आपने ऐसा क्यो किया ? श्रीप्रकाश आचार्यजी पर भी नाराज हुए और बोले, आपको मेरा कृतज्ञ होना चाहिए कि मैंने उन्हे गले से पकड़कर बाहर नही फेंक दिया। नरेन्द्रदेवजी का सारा जीवन ही ऐसे संकटों के बीच से गुजरा था, जिसका सबूत हम सम्पूर्णानदजी के उस ससमरण में पाते है, जिसमें उन्होने लिखा है कि "अस्पताल मे पड़े रहते थे, मित्रगण जबरदस्ती उनको किसी दूर स्थान मे आराम के लिए ले जाते। परंतु वहां भी लोग पहुच जाते और उनसे राजनीतिक प्रश्नो पर राय लेते, घंटों बातें करते तथा लम्बे-लम्बे निबध लिखवाते। बीमारी से पीड़ित होते हुए भी नरेन्द्रदेव का सौजन्य और लोकहित का भाव उनको 'नही' करने की अनुमति नहीं देता था। इसके फलस्वरूप वह दुर्बल होते आ रहे थे। उन्हे फिर से दौरा पड जाता। कई-कई दिनों तक तडपते रहते, फिर भी लोग उनका पिंड नहीं छोडते थे।"

नरेन्द्रदेवजी ने गांधीजी के बारे में एक वाक्य कहा था—"वह भारत की प्राचीन सस्कृति और वर्तमान युग की शिक्षा की देन थे। यही वाक्य नरेन्द्र-देवजी पर सटीक बैठता था। उनके व्यक्तित्व में प्राचीन भारतीय सस्कृति और वर्तमान युग की बौद्धिकता का ऐसा समन्वय हुआ था, जिसके कारण उनका व्यक्तित्व पाश्चात्य विचारों का दोहन करता हुआ भारतीय भूमि पर दृढता से खडा था। यह शायद बार-बार दोहराने पर भी अप्रासंगिक नही माना जाएगा कि वह एक स्वतंत्र विचारक थे और जिन भी विचारो को

अपनाते, फिर वे चाहे पश्चिम से आ रहे हो अथवा देशज हो, उनको सर्वथा एक नया रूप देते थे, नई व्याख्या देते थे। नरेन्द्रदेवजी के व्यक्तित्व की चमक उनको प्रखर बुद्धि और त्यागमय जीवन के योग से मिली थी। बचपन से ही उनके व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास होने लगा था। बचपन में पढ़ी हुई भगवद् गीता ने उन पर अमिट छाप छोड़ी थी जो अंत तक बनी रही। यदि बचपन में उनके संस्कृत के शुद्ध उच्चारण ने महामना मालवीय के मन मे उनके प्रति आकर्षण उत्पन्न किया था, तो समाज से हिंसा के उन्मूलन के लिए, शोषण और विषमता को दूर करने की अनवरत लगन के लिए उनका व्रती मन जन-जन को प्रभावित करता रहा। उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व के निर्माण मे, जहा उनके पिता का बहुत बड़ा योगदान था, वही कतिपय अन्य लोगो का भी आभार उन्होंने स्वय स्वीकार किया है। इन लोगों में स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गाधी, तिलक, लाला हरदयाल और उनके कतिपय गुरुओ का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है। यह भी कहना जरूरी जान पडता है कि उनके व्यक्तित्व की बनावट मे बुद्ध और टालस्टाय भी अविछिन्न रूप से अनुस्यूत थे। उनके व्यक्तित्व मे आमनियंत्रण की शक्ति, शरीर मे आत्मा की सत्ता की स्वायत्तता और जीवन मे अपरिग्रह का भाव और निष्काम कर्म की प्रवृत्ति गीता के अध्ययन, मनन और कतिपय महापुरुषो के दार्शनिक विचारों और चरित्रो के कारण बनी और विकसित हुई।

जिस प्रकार फूलो से वासित होने पर तेल सुगधित हो जाता है, उसी प्रकार नरेन्द्रदेवजी का व्यक्तित्व भी गुणो से वासित होकर सुगंधित हो उठा था। उनके गुणों की सुगध उनके प्रत्येक आचार-विचार मे मिलती थी। मालूम नहीं कि रवीन्द्रनाथ का उन पर कितना प्रभाव पड़ा था, लेकिन उनमे भी अकेले चलने की बडी उमंग थी। इसकी स्पष्ट झलक उनके उस संकल्प मे मिलती है, जो उन्होने 30 अप्रैल 1955 को काशी में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के बीच लिया था। अकेले चलने के दृढ़ निश्चय के सम्बध मे उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—"एक छोटे समूह द्वारा समूची पार्टी पर कब्जा करने का मैं मूक दर्शक नही हो सकता। लोगों ने समझा है कि वृद्ध हैं, जर्जर है, चल नही सकते, कर ही क्या सकते हैं? अच्छा मौका है। मैं समूचे देश का देशाटन करूंगा, समाजवाद के पवित्र संदेश को भारत भूमि की प्रत्येक झोंपड़ी तक पहुंचाने का प्रयत्न करूंगा। मेरा दमे का दौरा और

राजनीतिक दौरा साथ-साथ चलेगा। पार्टी के साथ विद्रोह करने वालों को क्षमा नहीं किया जा सकता।" उनके इन वाक्यो मे उनके व्यक्तित्व की दृढता उभरकर सामने आती है। उनमे अदम्य साहस था, अपने सिद्धातो पर अटल रहने की शक्ति थी, और आदर्श के लिए मर मिटने की उमंग थी। उनका सारा जीवन अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लडते हुए ही बीता था। वह समाजवाद को नरेन्द्रदेव से बडा मानते थे। समाजवाद के प्रति उनकी निष्ठा, मानव मूल्यों और मानवता मे दृढ विश्वास के कारण बनी थी। वह समाज मे श्रम के मूल्य और महत्व को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। थाईलैंड की यात्रा से लौटने पर, किसी प्रसंग मे बातचीत करते समय उन्होने लेखक से कहा था कि जब तक वस्तुओ का मूल्य अधिक और मनुष्य का मूल्य उनसे कम रहेगा, समाजवाद की स्थापना नही हो सकती। उनके भीतर चिन्तन को प्रवृत्ति अंत तक बनी रही। आमतौर पर एक अवस्था के बाद आदमी के विकास की गति रुक जाती है और सोचने की गति अवरुद्ध हो जाती है, किन्तु नरेन्द्रदेवजी का व्यक्तित्व इस जडता से सर्वथा अछूता ही रहा। वह अपने जीवन के अतिम दिनो तक नई विचारधाराओ को आत्मसात करते हुए, उन्हे अपने रूप से अपने देशवासियों को देते रहने की चिन्ता करते रहे। अपनी पीढी के प्रतिनिधि तो और भी कई महापुरुष हुए हैं, जिन्होने अपनी पीढी की आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित किया। किन्तु नरेन्द्रदेवजी का व्यक्तित्व ऐसा था, जो अपने समसामयिक समाज से निरन्तर जुडता हुआ आगे की ओर देखता रहा। यही कारण है कि वह अपने बाद की पीढी की आशाओ और आकाक्षाओ को भी स्पष्टतः व्यक्त कर सके। इस दृष्टि से उनको युग पुरुष ही नही, बल्कि सनातन पुरुष भी माना जाना अतिशयोक्ति नही होगी।

आचार्यजी विनय और निस्पृहता की प्रतिमूर्ति थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने अह के ऊपर विजय पाई थी, वह उनके समसामयिक विचारको के लिए स्पृहा की वस्तु थी। वह इस गुण के कारण ही सकल समाज के व्यक्ति बन गए थे। उनकी बौद्धिकता उन्हे आम आदमी से अलग नही कर सकी। उन्होने सदा ही समाज को अपने से बड़ा माना और इसीलिए समाज के भीतर रहते हुए उसे बराबर उन्नतशील बनाए रखने की कोशिश की। जो समाज जितना उन्नत होता है, उस समाज के व्यक्ति भी उतने ही सुशिक्षित होते हैं। उनके अनुसार, जब तक मानव का बौद्धिक और नैतिक स्तर ऊचा

नही होगा, तब तक सच्चे समाजवाद की स्थापना नही हो सकेगी। उनका विश्वास उन्ही के शब्दो मे देखे —"एक समाजवादी केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए नही जीता है। वह सकल समाज के लिए जीता है। उसका हृदय उदार और विशाल होता है और मानवीय पीड़ा का वह वैसे ही हिसाब रखता है जैसे भूकम्प मापक यंत्र मृदु-से-मृदु कप का।"

उनके व्यक्तित्व की एक विशेषता यह थी कि वह नैतिक बल को मानव का अनिवार्य गुण बनाना चाहते थे। उनके अनुसार, नैतिक बल बड़े-से-बड़े भय से भी रक्षा करता है। यह नैतिक बल ही राज्यशक्ति के प्राप्त होने पर शासक वर्ग को राजसत्ता के मद से दूर रखता है। वह ऐसा मानते थे कि शक्ति और अधिकार के लिए होड लगाने वाले व्यक्तियो द्वारा समाजवाद की स्थापना नही हो सकती। किसी भी समाज के सम्मुख ऐसे अवसर आते रहते हैं, जब समाज का एक भाग व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है। उस समय उसमे किसी आदर्श या लक्ष्य के लिए जीवन को अर्पण करने की भावना प्रबल हो जाती है। समाज के इतिहास मे यही उज्ज्वल युग होते है। नरेन्द्रदेवजी के समाजवाद का समाज उन्ही के शब्दों मे देखना उचित होगा। "उस समय समाज का वातावरण एक नवीन उत्साह, नवीन विचार और नवीन कल्पना से ओत-प्रोत होता है। उस समय प्रत्येक को ऊपर उठने का मौका मिलता है। समाज एक ऊचे स्तर मे प्रवेश करता है और नए युग के प्रवर्तक आगे आते है। नवयुवा इस वातावरण से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। नए स्वप्न, नई कल्पनाएं उन्हे आकृष्ट करती है। नए विचारों की चर्चा हर जगह होती है। ज्ञानोपार्जन की उत्सुकता बढ़ जाती है और प्रत्येक युग अपना साहित्य प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार समुद्र मे आए ज्वारभाटे से प्रभावित तरगे इतनी ऊंची उठती है, मानो उसकी तरगे चन्द्रमा को छूने के लिए विकल हो, उसी प्रकार क्रांति के युग में मानव-हृदय मे उत्पन्न उद्वेग अपनी संकुचित सीमा का अतिक्रमण कर सकल समाज में व्याप्त होना चाहता है और अगाध समुद्र की तरह असीम होना चाहता है।" इस काव्योचित शब्दावली मे समाजवाद की संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यजी ने अपने उद्‌गार प्रकट किए थे। उन्हे इस बात का दुख था कि "आज के युग मे शक्ति की पूजा बहुत बढ गई है और अधिकार-लोलुपता के कारण शासक वर्ग मे परस्पर विद्वेष, वैमनस्य और सघर्ष पाया जाता है। इसके फलस्वरूप जीवन के

सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य भी नष्ट हो गए हैं।" इतना उद्धरण इसलिए भी दिया गया कि उनके व्यक्तित्व मे जो आदर्शवादिता और अध्यात्म अत तक बना रहा, वह स्पष्ट हो जाएगा।

बचपन मे उनका शरीर काफी स्वस्थ था, किन्तु आगे चलकर उनकी शरीर सम्पत्ति बिगड़ गई। पर इससे उनके कर्तव्य पर कोई बुरा प्रभाव नही पड़ा। उनका आचार, उनका व्यवहार, समाज के प्रति उनकी आस्था, लोकहित की भावना—यह सब अक्षुण्ण बने रहे। उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओ के ही कारण लोगों ने उनसे अनुचित लाभ भी उठाया। इसके कुछ उदाहरण पहले दिए जा चुके है। फिर भी उनके व्यक्तित्व में सच्ची लोक हित की भावना सदा प्रस्फुटित होती रहती थी। शायद यही कारण था कि कभी-कभी लोगों की दृष्टि उनकी क्षीण होती हुई शरीर सम्पत्ति की ओर से हट जाती थी और लोग उनके साथ जुड़े रहने मे ही अपनी मगलाशा देखते थे। यह उनका धैर्य था, जो उन्हे कभी भी कटु या तिक्त होने नही देता था। उदारता उनके व्यक्तित्व का एक बड़ा उज्ज्वल पक्ष था। यह उदारता कभी-कभी अतिशय बन जाती थी। इसी कारण वह अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व पर कभी विशेष ध्यान नही दे सके और अपनी आमदनी का एक बड़ा अश विद्यार्थियो की सहायता और समाज सेवा में खर्च करते रहे। इसके कारण नरेन्द्रदेवजी को अक्सर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कहते है कि ऐसा ही एक आर्थिक सकट उपस्थित हो जाने पर नरेन्द्रदेवजी को एक बार मुगल काल की राग-रागनियों की एक सुंदर चित्रावली, जो उनकी पैत्रिक सम्पत्ति थी, बेचनी पड़ी थी। इस घटना से उनके व्यक्तित्व का एक और पक्ष भी उजागर होता है। इस चित्रावली में एक-सौ चित्र थे, जिनमे विभिन्न रागनियां चित्रित थी और प्रत्येक चित्र के नीचे दोहों मे रागनी का वर्णन था।'चित्रों पर सुनहरा काम था और ये चित्र उस समय भी नए दिखाई देते थे। लका के प्रसिद्ध कला विशेषज्ञ श्री कुमार स्वामी इस चित्रावली के लिए पच्चीस हजार रुपये देने को तैयार थे, पर आचार्य नरेन्द्रदेव राष्ट्र की इस सम्पत्ति को देश से बाहर भेजना उचित नही समझते थे। अतः उन्होने केवल ढ़ाई हजार रुपये में ही उस चित्रावली को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हाथ बेच दिया। आचार्य नरेन्द्रजी के मित्र डॉ० जयदेव सिंह, जिनके माध्यम से इस चित्रावली की बिक्री हुई, इसकी चर्चा करते हुए रो पड़े थे।

शरीर के रुग्ण होते हुए भी नरेन्द्रदेवजी को खाने-पीने का शौक अत तक बना रहा। युवावस्था मे तो सब पच जाता है, किन्तु एक स्थिति ऐसी आती है जब शरीर सब कुछ नही पचा पाता। नरेन्द्रदेवजी इसका ध्यान नही रख पाते थे। उन्हे जवानी के दिनों मे मीठा और चटपटा खाना बहुत प्रिय था। रबडी, मलाई, कुल्फी, दही की चाट और काफी उन्हें बहुत प्रिय थी। दमे के दौरे मे भी यदि उन्हे इस बात का पता चल जाता कि घर मे अच्छी मलाई बनी है या आई है, उसे माग बैठते थे। फैजाबाद में रहते हुए वह गरीबा नाम के दुकानदार की रबड़ी बहुत पसद करते थे। काशी विद्यापीठ मे पढ़ते समय उन्हें पांडेपुर पिसनहरिया की गुलाबजामुन प्रिय हो गई थी। भारत के विभिन्न नगरो में जाने पर वह वहा अच्छी बनने वाली मिठाइयों की जानकारी मागते थे। मेजबान भी उनके प्रति आदर का भाव रखने के कारण केवल जानकारी देकर ही सतुष्ट नही हो जाते थे, बल्कि मिठाइयों को प्रस्तुत भी कर देते थे। इससे उनकी पाचन-क्रिया पर बुरा प्रभाव पड़ता था। आदरणीय डॉ० भगवानदासजी के कई बार मना करने पर भी नरेन्द्रदेवजी इस विषय मे अपने को सुधार नही सके। खाने की उनकी इस तेजी को देखकर, उनके विद्यापीठ के मित्रो ने उनके खाने के ढग को पजाब मेल कहना शुरू कर दिया था।

नरेन्द्रदेवजी विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी थे। उनके साथियों और सम-कालीन व्यक्तियो ने भी उनके व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ लिखा है। प्रो० राजाराम शास्त्री के अनुसार उनके व्यक्तित्व में मानवता और संस्कृति मूर्तिमान हुई थी। उनके व्यक्तित्व में ज्ञान और कर्म का, विद्या और तपस्या का, प्राचीन और नवीन का, प्राच्य और पाश्चात्य का तथा आदर्श और व्यवहार का अपूर्व समन्वय था। प्रसिद्ध साम्यवादी नेता श्री हीरेन मुखर्जी के अनुसार अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व के कारण वह ससार की उन विभूतियो मे थे जिनके नाम से लोक-गाथाएं जुड़ जाती है। उनमें वह आत्मबल था जिससे वास्तविक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। उनके अंतःकरण मे दुर्भावना के लिए कोई स्थान नही था। उनका हृदय निकृष्ट को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ था। नेहरूजी ने लिखा है कि "उनके समान आत्मबल, बौद्धिक विकास तथा मानसिक ईमानदारी दुर्लभ है।" बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर जो कि उनके विद्यार्थी रह चुके थे, ने लिखा है कि "उनके व्यक्तित्व मे

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, चारित्र्य और स्वार्थ-त्याग का ऐसा मिश्रण है, जिसकी उपमा शायद ही किसी के चरित्र मे मिले।" वस्तुतः आचार्य नरेन्द्रदेव नम्रता और सौजन्य की प्रतिमूर्ति थे : राजनीति में अपने व्यक्तित्व की जिस कमी के कारण उन्हे हानि उठानी पड़ी थी, वह थी अपने को स्वयं प्रचारित न करने की प्रवृत्ति। उन्हे स्वार्थ की गंध छू तक नही सकी थी। उनके सहपाठी प० गोविंद बल्लभ पंत ने उनमें सहृदयता, साधुता और महानता का बेजोड़ मिश्रण पाया था।

ऐश्वर्यशाली व्यक्तित्व से सम्पन्न आचार्यजी अपने व्यक्तिगत जीवन मे सदा सांसारिक ऐश्वर्य से दूर रहे। उनके ऐश्वर्यशाली व्यक्तित्व का ऐसा कौन-सा पहलू था जो सदा प्रतिभासित न होता रहा हो। लेखनी थक सकती है पर उनकी विशिष्टता का बखान पूरा नहीं हो सकता। अपने कंधों पर दो युगो का भार एक साथ लिए वह चलते रहे थे। एक वह युग था, जो उन्हें विरासत मे मिला था। एक वह था, जिसका वह निर्माण कर रहे थे और विरासत के रूप में इस देश के कल्याणार्थ सदा-सर्वदा के लिए छोड़ जाना चाहते थे। भावी युग का स्वप्न उन्होने प्रजातांत्रिक समाजवाद के रूप में देखा था। जिसकी स्पष्ट व्याख्या उनसे अधिक कोई कर ही नही सका। उनके अपूर्व व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए सम्पूर्णानंदजी ने कहा था—"कांग्रेस से अलग होने के बाद भी वह देश के सर्वमान्य, गण्यमान्य नेता रहे। चाहे कोई व्यक्ति किसी भी दल या किसी भी पार्टी में रहा हो अथवा ऐसा कोई भी शख्स जो भारतीय राजनीति मे दिलचस्पी रखता हो, ऐसा नही होगा जिसके दिल में उनके प्रति आदर और सम्मान न रहा हो।" इसी संदर्भ में वह आगे कहते हैं, "उनके चरित्र के सम्बंध में इतना ही कहना काफी है कि उनका कोई कट्टर विरोधी भले ही रहा हो, लेकिन कभी भी किसी को उनके चरित्र के ऊपर हर्फ रखने का मौका न मिला।...जिन लोगों को उनसे मिलने का, उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला होगा, उन्होंने देखा होगा कि वह पुरानी वजहदारी को किस खूबसूरती के साथ बरतते थे। इन सब बातों के परिणामस्वरूप, उनके किसी से चाहे कितने ही उत्कट राजनीतिक विरोध क्यों न रहे हों, परंतु उनका शत्रु कोई नही था। वह अजातशत्रु थे।"

उनके साथी फरीदुल हक अंसारी उनके व्यक्तित्व का बयान करते हुए लिखते है, "आचार्य नरेन्द्रदेव एशिया में एक आलिम फलसफी और मुफक्किर

ही नहीं थे, बल्कि बुलंदपाया इंसान थे। एखलाक का मुजस्समा और मशरिकी तहजीब और तमद्दुन के बेहतरीन नमूना थे। इनकी जिन्दगी का हर गोशा तमाम एशिया के लोगों को आमतौर पर और हिन्दुस्तानियो के लिए खासतौर पर काबिले अम्ल मिसाल पेश करता है।...वह अपने जमाने के इर्तकाई मंजिल के मिनारा थे। एक अंजुमन थे।" सच तो यही है कि उनके व्यक्तित्व से आम आदमी की उन तकलीफों का दर्द झलकता रहता था, जिसकी दवा के लिए वह सदा बेचैन रहे। इसीलिए वह हिन्दुस्तान मे एक नया समाज बनाना चाहते थे। ऐसा नया समाज जिसमें शोषक और शोषित न रहें, हर मेहनतकश अपनी मेहनत और मशक्कत का फायदा उठाए, कोई अनपढ़ न रहे और कोई दवा और इलाज के बगैर बेमौत न मरे।

स्नेह और गरिमामय जीवन

यद्यपि स्नेह और गरिमा दो विरोधी तत्व नहीं हैं, फिर भी इनका मणि-काचन योग बड़ा ही सुखकर प्रतीत होता है। 'भारत छोड़ो' तथा 'करो या मरो' के ये दो नारे जब गांधीजी ने देश को दिए, उसी दिन उनके समेत बहुत से शीर्ष नेता गिरफ्तार कर लिए गए। आचार्यजी भी उन्ही में से एक थे और अहमदनगर किले में नजरबंद कर दिए गए। आमतौर पर आचार्यजी के व्यक्तित्व से, उनकी शरीर रचना से और उनके गम्भीर पांडित्य से जो प्रभाव लोगों के चित पर पड़ता रहा, उससे यह धारणा बना लेना कि वह एक निर्लिप्त स्वभाव के और संन्यासी मन वाले व्यक्ति थे, स्वाभाविक था। वैसे भी उन्हें सांसारिक मायाजाल में फंसा हुआ लोगों ने नहीं पाया। उनके समवयस्कों ने, हो सकता है कि उनका यह रूप भी उनके विद्यार्थी जीवन या उसके बाद कुछ दिनों तक देखा हो किन्तु राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे प्रवेश करने के बाद उन्हे ज्यादातर निःसंग ही पाया गया।

अहमदनगर जेल में रहते हुए उन्होंने अपने बड़े लड़के से जो पत्र-व्यवहार किया उससे इन दो पक्षों पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है और उनकी रुचि तथा उनके स्वभाव की कुछ नई पर्तें खुलती हैं। जिन बातो की चर्चा इस अध्याय में की जा रही है, उनका समावेश उनके व्यक्तित्व की समग्रता मे हो जाता है, किन्तु इन्हें एक अलग अध्याय में कहना इसलिए उचित जान पड़ा कि ये बातें उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध हैं और इनका उपाख्यान विस्तार से करने से कुछ रोचक जानकारी मिलती है। फिर कहना पड़ेगा कि बावजूद इसके कि ये बाते उनके व्यक्तित्व का और प्रकर्ष दर्शन कराती हैं इन्हें अलग से लिखना ही समीचीन जान पड़ा। इन पत्रो से जो सूचना मिलती है उनका यद्यपि नरेन्द्रदेवजी से या उनके स्वाभाव से कोई सीधा सम्बन्ध नही है, फिर भी उनसे अहमदनगर कारावास के भीतर के परिवेश की झलकियां अवश्य मिलती

हैं और इसके साथ ही आचार्यजी की चरित्रगत विशेषताओं पर भी रोशनी पड़ती है। अपने एक पत्र में उन्होंने अपने लड़के से हिन्दी के कुछ अच्छे उपन्यासों की मांग की, क्योंकि उनके जेल के अन्य साथी वहां रहते हुए हिन्दी का अध्ययन कर रहे थे। जाहिर है कि वे अहिन्दी भाषी क्षेत्र के निवासी रहे होंगे अथवा वे रहे होंगे, जिनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी के माध्यम से हुई होगी। उस समय हिन्दी के विरोध की भावना किसी के मन में नहीं थी और सभी यह मानते थे कि देश की एकता के लिए, राष्ट्रीय स्तर पर जन सम्पर्क के लिए, और आजादी की लड़ाई को सफलतापूर्वक चलाने के लिए, हिन्दी से अधिक जुझारू भाषा दूसरी नहीं है। आज जब उसी के विरोध में उन नेताओं के मुकाबले कहीं अधिक छोटे और कम समझ वाले व्यक्तियों को हिन्दी का विरोध करते हुए और अंग्रेजी का पक्षधर बनते हुए देखते हैं तो यही बात समझ में आती है कि राजनीतिक आजादी तो मिली, किन्तु मानसिक स्तर पर हम आज भी अंग्रेजी और गोरी चमड़ी के गुलाम बने हुए हैं।

नरेन्द्रदेवजी के खतों से केवल इतना ही पता नहीं चलता कि उन दिनों चोटी के नेता, खासकर हिन्दी न जानने वाले नेता निष्ठापूर्वक हिन्दी सीख रहे थे या सीखने का प्रयत्न कर रहे थे, वरन भाषा के प्रति उनके मन में सम्मान भी था। वे लोग भाषा को सम्प्रेषण का समर्थ माध्यम बनाना चाहते थे और उसका सही प्रयोग भी करना चाहते थे। नरेन्द्रदेवजी स्वयं संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, पाली आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उनका फ्रेंच भाषा पर कितना अधिकार था, इसका भी जिक्र आगे आएगा पर भाषा के प्रति सम्मान और सजगता का भाव कितना गहरा था, इसका भी प्रमाण मिलता है। वह अपने पत्र में अपने बड़े लड़के को लिखते हैं कि वह एक अच्छा हिन्दी का कोश भेज दे। हो सके तो ज्ञान मंडल द्वारा प्रकाशित हिन्दी कोश। वह अंग्रेजी-हिन्दी, संस्कृत-हिन्दी या फ्रेंच-हिन्दी कोश मांगते, तो यह बात समझ में आती कि उन भाषाओं से अनुवाद करते समय संदेह या भटकाव किसे नहीं हो सकता पर जिस व्यक्ति का हिन्दी और संस्कृत पर इतना अधिकार हो, उसे केवल हिन्दी कोश की आवश्यकता कौतुहल पैदा करती है। वह जो भी लिख रहे थे, वह हिन्दी भाषा में ही लिख रहे थे। ऐसी स्थिति में भाषा के प्रयोग का ही प्रश्न था, अर्थ की उतनी आवश्यकता नहीं उठ रही होगी।

ज्ञान मंडल का प्रकाशन हो या अन्य कोई, तब तक हिन्दी में कोई भी अच्छा व्युत्पत्ति परक कोश नहीं बन पाया था तब प्रयोग की बात पीछे रह जाती है। शब्दों का सही अर्थों मे ही प्रयोग वह करना चाहते रहे होंगे तभी सम्प्रेषण की शक्ति भाषा में बढ़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस पीढ़ी के लेखक और विद्वान भाषा के प्रति बहुत सजग थे। ऐसा शायद वे सोच भी नही पाते थे कि हिन्दी तो मातृभाषा है, जो लिख दिया जाएगा या जो वे बोलेंगे, वह सब या वही सही होगा। इस प्रकार की अहमन्यता उन लोगो मे नहीं थी। उनकी यह सतर्कता स्पृहणीय और अनुसरणीय है। ऐसे आचरणों में ही इन महापुरुषों की गरिमा झलकती है।

अहमदनगर से लिखे गए जितने भी पत्र हैं, उन सबमे पिता का स्नेह पुत्र पर तो झलकता ही है, आत्मीयजनों के प्रति भी उनका सरोकार स्पष्ट होता रहता है। अपने बारे में घरवालों को इतनी सूचना तो देते हैं कि "पिछले डेढ़ महीनों से मुझे दमे का दौरा नहीं पड़ा है। गर्मियो मे मैं प्रायः इससे मुक्त रहता हूं।" बस, इसके बाद उन्हें दूसरो की फिक्र सवार हो जाती है। "तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना। यह प्राथमिक आवश्यकता है। खेलकूद और मनोरंजन मे हिस्सा लेते रहना। हमेशा प्रसन्नचित्त रहना। किसी भी विवादपूर्ण विचार को मन मे मत आने देना। मेरे बारे मे किसी प्रकार से चिन्तित होने का कारण नहीं है।" परिवार के सभी सदस्य इस बात से परिचित थे कि उन्हे स्वाध्याय का व्यसन है। यह भी जानते थे कि वह दमे के मरीज हैं। तब उनका आगे एक दूसरे पत्र में यह लिखना कि "आजकल गर्मी के कारण मैं बहुत पढ नही रहा हूं।" अपने परिवार वालों को दूसरे प्रकार से आश्वस्त करने का प्रयत्न था, ताकि वे लोग उनके स्वभाव के कारण स्वास्थ्य में उत्पन्न होने वाली गडबड़ियों से चिन्तित न हों। स्नेह का यह दूसरा तरीका भी कितनी संवेदनशीलता से भरा हुआ है। लेकिन इसके साथ ही यह भी लिख देते हैं कि "मैंने इन दिनों बहुत पढ़ा है, पर किसी योजना के अनुसार नहीं।" इसका अर्थ यह सम्प्रेषित करना है कि अध्ययन तो नहीं छोड़ सकता, पर गम्भीर अध्ययन जिसका स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ सकता है, नही कर रहा हूं। उसी पत्र में फिर इसके बाद एक और सूचना देते हैं, जिससे उनके भीतर जो उमड-घुमड़ रहा है उसका पता चल जाए। वह लिखते हैं कि "मैं इन दिनों हिन्दी में बौद्ध दर्शन पर एक पुस्तक लिखने की योजना बना रहा हूं। इन दिनो उसी से सम्बद्ध

सामग्री एकत्र करने में जुटा हुआ हूं। पर यहां जेल मे इस विषय पर अच्छी पुस्तक लिखने के लिए समुचित सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी पुस्तक लिखने के लिए बहुत बड़ी संख्या में संदर्भ ग्रंथों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब लेखक को प्राच्य विद्या के बहुत अच्छे पुस्तकालय का सहारा मिला हो। फिर भी मैं सोचता हूं, इस पुस्तक को लिख ही डालूं और जो कमियां रह जाएंगी, वह बाद में जब सुविधाएं उपलब्ध होंगी, पूरी कर दूंगा।" इस पत्र से पता चलता है कि उनके मन में बौद्ध दर्शन पर बहुत दिनों से कोई ग्रंथ लिखने का विचार चल रहा था और अंत में अपने नौकर सत्यदेव को आशीर्वाद देते हुए पत्र को समाप्त कर लेते हैं।

इस बीच लगता है बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रारूप तैयार हो चला था। जगत की उत्पत्ति और विकास के बारे में बौद्धिक वाङ्मय में उपलब्ध विचारधारा का प्रभाव और विरोध दोनों ही बौद्ध दार्शनिकों के मतो में प्रकट हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की बहुत-सी बातें विचारों को नया मोड़ दे रही थीं। आचार्यजी सम्भवतः अपने इस प्रस्तावित ग्रंथ मे उन सबका मंथन करके अपना मत स्थिर करना चाह रहे थे। अपने 14 अक्तूबर 1943 के पत्र में वह अपने बड़े लड़के को लिखते हैं, "क्या तुम कृपा कर डा० अवधेष नारायण सिंह से, जो लखनऊ विश्वविद्यालय में गणित विभाग के रीडर के पद पर हैं, कहोगे कि वह तुम्हें नीचे लिखे प्रश्नो का उत्तर दे दें ? प्रश्न इस प्रकार थे—

(1) हिन्दू खगोल विधि तथा आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य का सही समय क्या है ?

(2) भारतीय वाङ्मय मे गणितीय दृष्टि से शून्य का सबसे पहले कब संदर्भ मिलता है ?

(3) 'लीलावती' (गणित सम्बंधी एक महत्वपूर्ण पुस्तक) का रचयिता कौन है और इसका यह नाम क्यों पड़ा ?

(4) परम्परा से यह माना जाता रहा है कि भास्कराचार्य की लड़की का नाम लीलावती था और पुस्तक का नाम उसी के नाम के आधार पर रखा गया। इस बात की पुष्टि या खंडन जो भी सही हो।

(5) क्या साहित्य इस प्रकार के अलौकिक नामकरण की सुविधा या समर्थन देता है ?

वह आगे लिखते हैं कि "तुम उनसे यह भी कह सकते हो कि वह हिन्दू गणित से सम्बद्ध कुछ पुस्तकें, जिन पर इन प्रश्नों पर विचार हुआ हो, सीधे मेरे पास भेज दें ताकि इन प्रश्नों पर या इनसे सम्बद्ध आम विषयों पर प्रकाश पड़ सके।"

स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन पर लिखते हुए वह भारत के उस समस्त और समग्र बौद्धिक विकास को सामने रखना चाहते थे, जिसके बिना कोई भी विचार-सरणी अधूरी रहती। इन पत्रों से यह भी पता चलता है कि वह कितने सचेत थे अपने कर्तव्य के प्रति और अपने पाठकों के प्रति, जिनको वह विस्तृत व्याख्यापूर्ण और सही ज्ञान उपलब्ध कराना चाहते थे। लेखक और बुद्धिजीवी को अपने प्रति और अपने पाठकों के प्रति कितना ईमानदार होना चाहिए और उसकी गरिमा किस प्रकार बनाई रखी जाती है, यह स्पष्ट होता है।

किताबों की मांग निरंतर बनी रहती है और निरंतर उनका स्नेह उन सबको मिलता है, जो उनके सगे सम्बंधी भी हैं और मित्र भी हैं। माध्यम केवल उनके बड़े लड़के हैं क्योंकि कारागार के अनुशासन और एतद् सम्बंधी नियमों के अधीन वह केवल उन्हीं सम्बंधियों को पत्र लिखते थे जिनका निर्देश सरकारी सूची में किया गया था। अत: उन्हें अपने बड़े लड़के को ही इन सबका माध्यम बनाना सुलभ जान पड़ा। इसकी चर्चा वह एकाधिक बार करते हैं और अपनी बेबसी का इजहार भी। 19 जून 1944 तक आते-आते लगता है वह अभिधर्म कोश का अनुवाद प्रारम्भ कर चुके थे। अपने इस पत्र में वह अभिधर्म कोश व्याख्या का मूल फ्रेंच भाषा में चाहते हैं और लिखते हैं कि "मैं इसका अनुवाद अगले चार महीनों में समाप्त कर देना चाहता हूं। अगर मुझे फ्रेंच भाषा में मूल ग्रंथ मिल जाए तो मैं सीधा फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद कर दूंगा। क्योंकि मैं देखता हूं कि मैं तेजी और आसानी के साथ मूल फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद कर सकता हूं। पर इसी के साथ वह एक अन्य पुस्तक की भी याद दिलाते हैं, जिसे उन्होंने इसके पहले अपने पत्र में मांगा था। वह लिखते हैं कि "मैंने 'कविता कौमुदी' का प्रथम भाग भी मांगा था, जो अभी तक नहीं मिला है।" 'कविता कौमुदी' बीसवीं शती के दूसरे और तीसरे दशक की बहुचर्चित पुस्तक थी। यह चार भागों में प्रकाशित हुई थी। प्रथम तीन भागों

में तब तक की हिन्दी कविताओं का चुना हुआ संकलन था और चौथे भाग मे उर्दू कविताओ का। इसका संग्रह, चयन और सम्पादन स्व० रामनरेश त्रिपाठी ने किया था और इनके माध्यम से लाखों व्यक्तियों ने हिन्दी, उर्दू की कविताओ का आस्वाद पाया था। यह दो बातों की ओर स्पष्ट संकेत करता है। एक ओर तो आचार्यजी गम्भीर अध्ययन और दार्शनिक साहित्य का सृजन कर रहे थे, दूसरी ओर स्वयं के मनबहलाव के साथ-साथ शायद अहिन्दी भाषी या हिन्दी न जानने वाले नजरबंद नेताओ को हिन्दी के प्रति प्रेम, आदर और निष्ठा उत्पन्न करने में सचेष्ट थे। आज हम यह काम प्रायः छोड़ चुके है। आज उसे सजाने, भाषा की दृष्टि से संवारने, उसे परवान चढ़ाने और उसके सौष्ठव के प्रति लोगों के मन में आकर्षण पैदा करने का काम प्रायः बंद-सा हो गया है। अब तो हर आदमी लिख रहा है और हर आदमी बोल रहा है, पर किसी को इसकी परवाह नहीं—अपवादो को छोड़कर—कि वह कैसी भाषा लिख रहा है और कैसी बोल रहा है। सरकारी दफ्तरों और हिन्दी के प्राध्यापकों की कलम से निकली भाषा कितनी नकली और अपनी प्रकृति से कितनी दूर होती जा रही है, इसकी चिन्ता बहुत कम हो गई है। नरेन्द्रदेवजी हिन्दी भाषा के प्रति सदा सजग और निष्ठावान बने रहे।

इन पत्रों से, जैसा पहले भी लिखा गया, स्नेह और सरोकारों की झलकियां बराबर मिलती रहती है। उन्हें जेल में लगता है कहीं से कोई हिन्दी पुस्तक, जिसका शीर्षक 'हमारा हिन्दुस्तान' था मिल गई होगी। वह उन्हें अच्छी लगी होगी और सम्भवतः उससे हिन्दुस्तान की सही तस्वीर मिलती रही होगी। उन्होंने उसे जेल से अपने लड़के के पास भेजा और उसे पढ़ने का आग्रह किया। वह चाहते तो उसका नाम और प्रकाशक का पता लिख देते और कहते कि उसे मंगाकर पढ़ लो। पर ऐसा उन्होंने नहीं किया। क्योंकि वह चाहते थे कि उनके बच्चे, कम-से-कम बड़ा लड़का उन पुस्तकों को जरूर पढ़े, जिसे उस उम्र के बच्चों को पढ़ाना वह जरूरी समझते थे। अपने एक पहले पत्र में वह अलेक्जेंडर ड्यूमा, लिन यू तांग और पर्ल बक के उपन्यासो को पढ जाने का आग्रह करते पाए जाते हैं और लिखते हैं कि ये पुस्तकें श्रीप्रकाशजी के यहां मिल जाएंगी अन्यथा वह उनका प्रबंध कर देंगे। इस प्रकार की पुस्तको के पढने का उत्साह बढ़ाते हुए जहां उनका ध्यान अंग्रेजी की अच्छी जानकारी और पकड़ पर होगा, वहीं वह अपने लड़के और उसके माध्यम से शायद उस

पूरी पीढ़ी को ही भारत की आजादी के बाद का स्वरूप स्पष्ट करना चाहते रहे होंगे। वह इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़ने का आग्रह करते हुए 'चायना बिल्ड्स फॉर डिमोक्रेसी' और उन्हीं दिनों अखबारों में प्रकाशित उस लेखमाला को पढने के लिए भी कहते हैं, जिसे पुरुषोत्तमदास और उनके दूसरे सहयोगियों ने प्रकाशित कराया था तथा जिसका शीर्षक था "प्लैन आफ इकनामिक डवलेपमेंट फॉर इंडिया' अर्थात भारत के आर्थिक विकास की रूपरेखा। वह इसे अपने बेटे को पढ़ाने के लिए इतने उत्सुक हैं कि लिखते हैं—"तुमने अखबारों मे इस लेखमाला को पढ़ा होगा। नहीं पढा हो तो प्रयत्न करके पढ़ डालो। यदि तुम्हें न उपलब्ध हो, तो लिखना, मैं यहां से भेज दूंगा। नई पीढ़ी प्रजातंत्र को अपनाए और भारत के आर्थिक विकास की ओर सचेष्ट हो। शायद यह संदेश वह वहां से प्रसारित कर रहे थे। यही युवकों के लिए संदेश था जेल की चारदीवारी के भीतर से, और संकेत था कि भारत अब शीघ्र ही आजाद होकर रहेगा। इसे अनुमान तो कहा जा सकता है पर अन्य पत्रों से भी वह जिन किताबों को पढ़ने का सुझाव देते रहते हैं, उनमें पर्ल बक की 'एशिया एंड डिमोक्रेसी' और स्टालिन पुरस्कार से सम्मानित 'द फाल आफ पेरिस' और 'रेनबो' जैसी पुस्तकों का नाम आने से इसकी पुष्टि ही होती है।

सन् 1943 की दीपावली नजदीक आ गई थी। उनके घर क्या दीप जलते, पर वह अपनी शुभकामनाएं और आशीर्वाद सभी आत्मीयजनों को भेजते हुए शिव प्रसादजी का भी हालचाल पूछते हैं। हर पत्र में किसी-न-किसी का समाचार जानना चाहते हैं। एक ही माध्यम से चारों ओर का हाल जानना चाहते हैं, सब तक पहुंचना चाहते है। कारण वही एक विवशता, जिसकी वजह से वह सबको पत्र नहीं लिख पाते थे। जिन लोगों का नाम बार-बार उनके पत्रों मे आता है, उनमें उनका नौकर सत्यदेव तो रहता ही है, श्रीप्रकाशजी के लड़के यशजी, लक्ष्मी (जो उन दिनों यक्ष्मा से से पीडित थी) काके बाबू, डा० साहब (इनके बडे भाई) श्रीप्रकाशजी, गोपालजी, पत्नी, बहन-भाई और भाभी, मैनेजर साहब, बाबू हरकिशन लाल, विष्णुजी तथा बैजनाथ जरूर होते हैं। सुमंत से भेंट होने पर वनवासी राम भी ऐसे ही बहुतों को याद जिस स्नेह से करते हैं, वैसा ही स्नेह आचार्यजी का भी जान पड़ता है। लक्ष्मी के बारे में तो वह बार-बार पूछते रहते हैं कि वह भवाली सेनेटोरियम पहुंच गई कि नहीं। अपने एक मित्र डा० का पता लिखते हैं

और उत्सुक रहते हैं उसके स्वास्थ के बारे में, शिवप्रसादजी के स्वास्थ्य के बारे मे, डा० साहब के स्वास्थ्य के बारे में। केवल चिन्ता और उत्सुकता नही है तो अपने स्वास्थ्य के बारे में। दूसरे चिन्तित न हों, अतः यदा-कदा उन्हें आश्वस्त भी करते रहते हैं। दमा का दौरा तो पड़ेगा, पड़ता भी रहा पर उसकी सूचना तब देते हैं जब वह स्वस्थ हो चले होते हैं। कैसी स्नेह सबल देह यष्टि है इस महापुरुष की, और कैसी गरिमा से भरा हुआ है इस पुरुष का विराट व्यक्तित्व, जो सकल समाज को परिवेष्टित करता हुआ 'स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्' से अलग खड़ा हुआ है।

सन् 1943 का वर्ष समाप्ति पर आ रहा था। उस साल के अक्तूबर महीने मे लिखे गए पत्रों से पता चलता है कि अभिधर्म कोष के अनुवाद का कार्य तेजी से चल चुका था। अब उन्हे फ्रेंच मूल से तीसरे और चौथे खंड की आवश्यकता थी, क्योंकि उनके न मिलने पर उनका काम रुका पड़ा था। उनकी माग पर तब तक बनारस से पुस्तकें नहीं पहुंच पाई थी और वह व्यग्र हो रहे थे। इन खडों के अभाव मे वह पांचवें खंड का अनुवाद समाप्त कर चुके थे। ऐसा लगता है उन्हें अनुवाद की ऐसी धुन लग चुकी थी कि जो भी खंड पहले मिल जाता था, उसी का अनुवाद पूरा कर डालते थे। इन पुस्तकों के स्रोत श्रीप्रकाशजी मालूम पड़ते हैं। बार-बार उन्हीं से आग्रह करने के लिए लिखते रहे और वह उन्हे कही-न-कहीं से प्राप्त कर उन्हे इनके पास भेजते रहे थे। उसी महीने में सात दिन बाद 30 अक्तूबर को वह पुनः अपने लड़के को लिखते हैं, "मुझे आशा है तुमने श्रीप्रकाशजी को मेरा संदेश दे दिया होगा कि वह फ्रेंच मूल के तीसरे और चौथे खंड को शीघ्र भेज दें। यदि इस समय ये दोनों खड उपलब्ध न हो रहे हो, तो पहला और दूसरा खंड ही भेज दें। इन्हीं के साथ यशोमित्र की संस्कृत टीका भी भेजने के लिए कहो।" नवम्बर की बीस तारीख को, जो पत्र उन्होने लिखा, उसमें वह अपना हार्दिक संतोष और तृप्ति का भाव प्रकट करते हैं। उन्हें इस बीच श्रीप्रकाशजी से फ्रेंच मूल में अभिधर्म कोश के एक से चार खंड एक साथ प्राप्त हो गए और डा० अवधेष नारायण की मार्फत हिन्दू गणित पर सामग्री मिल गई थी। वह लिखते है कि इन दोनों को मेरा हार्दिक धन्यवाद देना और कृतज्ञता प्रकट करना; साथ ही यह भी कहना कि इन किताबो को वह एक महीने मे ही लौटा देंगे। 20 नवम्बर का यह खत जरा लम्बा है। फिर भी उसका भावानु-

वाद देना उचित जान पड़ता है। इसी मे वह आगे लिखते हैं, "कृपा कर विश्वनाथजी को (श्री विश्वनाथ शर्मा, काशी विद्यापीठ) लिखो कि मैं एक से तीन खडो का उपयोग तब तक नही कर पाऊंगा, जब तक कि यशोमित्र की सस्कृत टीका का प्रथम भाग नही मिल जाता। (यशोमित्र की अभिधर्म कोश पर संस्कृत टीका है) मेरे पास उनकी टीका का दूसरा भाग है जिसमे फ्रेंच मूल के आर्यधर्म कोश के खड चार से नौ तक की व्याख्या है। इसकी मदद से मै खंड चार का अनुवाद, जो कि मेरे पास उपलब्ध है, पूरा कर डालूंगा। मैंने उसके सात, आठ और नौवें अध्याय का अनुवाद पूरा कर लिया है। अब मैं पांचवें और छठे अध्याय का अनुवाद तभी पूरा कर सकता हू, जब इनके फ्रेंच मूल मिल जाएं।" वह फिर दुहराते हैं कि चौथे खंड के अनुवाद मे उन्हे एक महीने से ज्यादा समय नहीं लगेगा। इन बार-बार के आश्वासनों से ऐसा प्रतीत होता है कि जिन पुस्तकालयों से ये ग्रथ उपलब्ध किए जाते रहे होंगे, वे शायद इन्हे देर तक बाहर रहने मे संकोच कर रहे थे। वह फिर लिखते हैं कि "अतः उनसे कहो कि वे या तो यशोमित्र की टीका का प्रथम भाग भेज दें या फिर अभिधर्म कोश के फ्रेंच मूल के पांचवें और छठे अध्याय को।" फिर उनकी आतुरता भी बौद्धिकों के लिए स्पृहणीय है जब वे लिखते हैं कि "ज्यादा अच्छा हो कि वे सभी को एक साथ भेज दें, यदि सम्भव हो तो।" इसी पत्र में अभिधर्म कोश के अनुवाद के साथ-साथ इस बात का भी संकेत मिलता है कि उन्हें भारत की आजादी का पूरा भरोसा हो चला था और वह स्वतंत्र भारत के संविधान पर भी विचार करते जा रहे थे। उन्होने इसी पत्र मे लिखा था कि "तुम शिवाराव द्वारा सम्पादित 'माडर्न कांस्टिट्यूशन' और इस सम्बध में कुछ अन्य प्रामाणिक ग्रथों को भी भेजो, जिनसे संघीय शासन प्रणाली के सुचारू सचालन पर प्रकाश पड़ता हो। मुझे ऐसा विश्वास है कि शिवाराव वाली पुस्तक बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध है।" कैसी विडम्बना थी कि वही आचार्य नरेन्द्रदेव जब सविधान परिषद् बनी तो राजनीतिक दबावों या कारणों से मित्रो के आग्रह के बाद भी उसमें न जा सके।

स्वाध्याय लेखन, चिन्तन और मनन की ऐसी सतत् प्रक्रिया बहुत कम देखने को मिलती है। आचार्यजी जेल में बंद हैं। कुछ साथी जरूर हैं, जिनमें जवाहरलालजी, सरदार पटेल और कृपालानीजी सरीखे लोग भी हैं, मौलाना

अब्दुल कलाम आजाद और कुछ दूसरे लोग भी रहे ही होंगे। मिलने-जुलने की सुविधानुसार आपस में भेंट भी होती रही होगी, पर उसकी झांकी इनके पत्रों से नहीं मिलती। किसी एक भी साथी का नाम, यहा तक कि महात्माजी का भी नामोल्लेख नही हुआ है। सम्भव है इस प्रकार के समाचार भेजने पर मनाही भी रही हो, क्योंकि इनके द्वारा भेजे जाने और इन्हे प्राप्त होने वाले सभी पत्र बम्बई सरकार के पोलिटिकल डिपार्टमेंट के मार्फत ही आते-जाते थे। पर इतना तो पता चलता ही है कि जो लोग भी थे और जिन लोगों से आपस में बातचीत होती रहती थी, उन सभी को स्वाध्याय मे भी रुचि थी और देश की भवितव्यता के प्रति चिन्ता भी थी। आचार्यजी ने तो अपना ध्येय निश्चित कर लिया था और शायद सकल्प भी कि बाहर निकलने के पूर्व ही बौद्ध धर्म-दर्शन पर पुस्तक तैयार कर लेंगे। जिस तेजी से बाहर से आने वाली पुस्तकों को पढ़ रहे थे और उन्हे वापस कर रहे थे, उसकी भी झलक मिलती है। परीक्षा मे बैठने वाले विद्यार्थी भी शायद इतनी मुस्तैदी न दिखाते हो। डा० टामस की लिखी पुस्तक 'लाइफ आफ बुद्ध' उन्होने पढने के लिए मंगाई थी। वह उन्हे मिल गई। 20 नवम्बर 1943 के पत्र में तो वह केवल इस खुशी का इजहार करते हैं और लिखते हैं कि "मुझे प्रसन्नता है कि तुम्हें डा० थामस की पुस्तक मिल गई।" साफ जाहिर है कि 20 नवम्बर तक उन्हे वह पुस्तक नहीं मिली थी। केवल इस बात की सूचना मिली थी कि पुस्तक उनके लड़के को मिल गई थी। उसे बम्बई सरकार के मार्फत प्राप्त होने में दस दिन तो लगे होंगे। उनके 21 दिसम्बर के खत से तो ऐसा अंदाजा लगता है कि वह पुस्तक उन्हे उसी दिन या उसके एक दो दिन पहले मिली होगी। इक्कीस दिसम्बर को वह अपने बेटों को लिखते हैं, "तुम्हारा स्नेहपूर्ण पत्र मिला। डा० थामस की 'लाइफ आफ बुद्ध' मिल गई। अगले सप्ताह ही इसे लौटा दूंगा।" इसी से यह भी पता चलता है कि उन्होंने फ्रेंच मूल के अभिधर्म कोश के चौथे खंड का आधा भाग अनूदित कर लिया था और बाकी आधा वह अगले पन्द्रह दिनो मे पूरा करने की आशा रखते थे।

प्रियजनों का समाचार न मिलने पर जितनी चिन्ता उन्हें होती थी, उतनी ही या उससे अधिक मायूसी अपनी चाही पुस्तकों के न मिलने पर होती थी। 31 दिसम्बर 1943 का एक पत्र उनकी इस मानसिक दशा की सूचना देता है। लिखते हैं कि "आशा है तुम्हें मेरा पत्र मिल गया होगा। बनारस से

अभी कोई किताब नहीं आई। शायद श्रीप्रकाशजी बनारस में नहीं हैं या शायद तुम्हारा पत्र ही अभी उन्हे न मिला हो। चूंकि लाइब्रेरी बड़े दिन और मुहर्रम की छुट्टियों में बंद रहेगी, मुझे डर है कि अब मेरी आवश्यकता की पुस्तकें मिलने में विलम्ब होगा।" इसी बीच उन्हें डॉ० भगवानदासजी का एक पत्र मिलता है जिसके साथ उन्होने अपनी नई पुस्तक 'पुरुषार्थ' की एक प्रति नए वर्ष की सौगात के रूप मे भेजी थी। इससे वह अत्यंत प्रसन्न हो उठते हैं और तत्काल अपने पुत्र को लिखते हैं कि "उन्हें मेरा श्रद्धापूर्ण प्रणाम कहना। मैं उनके स्नेह-स्मरण के लिए उनका अनुगृहीत हूं। 'लीडर' अखबार में मैंने उनकी पिचहत्तरवी वर्षगांठ पर हुए आयोजन का सुखद समाचार पढा और मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी। चूंकि मुझे उनके जन्मदिन की याद नही रही थी अत: मैं उन्हे समय से बधाइयां नही भेज सका। वह हमारे देश के ऋषियों की परम्परा मे आते हैं। हमारी प्रार्थना है कि भगवान उन्हें बहुत दिनो तक हमारे लिए स्वस्थ रखे रहें, ताकि वह जगत को प्रकाश दिखाने और हमारे प्राचीन विचारो और हमारी युगों से जीवित संस्थाओ की पुनर्व्याख्या आधुनिक भाषा मे कर सकें।" इसी पत्र में वह आगे यह भी लिखते हैं कि वह शीघ्र ही विद्यापीठ से आई हुई पुस्तकों को लौटा देंगे। वह प्रो० कौशाम्बी को भी इसी पत्र द्वारा यह सूचना देते हैं कि वह हिन्दी में पाली अभिधम्म पर भी एक पुस्तक लिख रहे है और अन्य अनुवादों के साथ उन्होने 'विसुद्धि-मग्ग' के कुछ महत्वपूर्ण अध्यायों का भी पाली से हिन्दी में अनुवाद किया है। पर इतनी ही सूचना से पत्र समाप्त हो गया होता तो यही पता चलता कि जेल मे बंद रहते समय वह मूलत: बौद्ध दर्शन और साहित्य से तन-मन से घिरे हुए थे और समय निकालकर भारत के भावी संविधान, शासन प्रणाली और उसके आर्थिक उत्थान की भी चिन्ता कर लेते थे। लेकिन वह तो इसी पत्र मे डॉ० बेनी प्रसाद की पुस्तक 'जहांगीर', यदुनाथ सरकार की 'औरंगजेब और बाबर नामा' का अंग्रेजी अनुवाद भी मांगते पाए जाते हैं। किन कारणों से इतना विविध ज्ञान संग्रह और व्यापक अध्ययन हो रहा था, इसका पता नहीं चलता।

उनके पत्रों के आधार पर आगे का प्रसंग उठाने के पूर्व एक बात की ओर ध्यान देना जरूरी जान पडता है। अपने फरवरी 1944 के जिस पत्र में उन्होंने भगवान दासजी को पुराने ऋषियों की परम्परा मे माना और उनके शतायु और स्वस्थ होने की भगवान से प्रार्थना की, क्या यह मात्र औपचा-

रिकता थी ? क्या यह केवल उनके प्रति साहचर्य जन्य श्रद्धा का भाव मात्र था ? क्या उनसे और उनके कुटुम्ब से आंतरिक रूप से जुड़े होने के कारण भावुक उद्गार मात्र था ? इस प्रकार के कई प्रश्न उठ खड़े होते है। किन्तु यह सब कुछ नही था। ऐसा मानने का कारण आचार्यजी की उन व्याख्याओं में मिलता है, जो उन्होंने दर्शन, धर्म साहित्य, संस्कृति और समाजवाद पर विचार करते हुए की है। वह भारत को और भारतीय समाज को प्रतिगामी नही बनाना चाहते थे, पर उनकी कल्पना का भारत और उसका समाज अपनी प्राचीन संस्कृति से कटकर नही बन सकता था। वह बार-बार भारतीय संस्कृति के उत्तमांश को न केवल याद रखने पर जोर देते रहे, वरन उसे दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने पर भी आग्रह करते हैं। ऐसा करने में वह पुनर्मूल्यांकन, विवेक और युगधर्म को पहचानते रहने वाली शक्ति पर भी जोर देते रहे। ऋषियों और आश्रमो की व्यवस्था व परम्परा तथा उनसे उद्भूत संस्कृति इसलिए अच्छी लगती रही कि उसमे विचारो की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती थी और किसी प्रकार की बाधा का आघात वह सहन नहीं करते थे। राजाश्रय की न तो उन्हें अपेक्षा थी और न राज उन्हे संत्रस्त करता था। राज और उसके प्रलोभनो से मुक्त रहकर ही सत्य की स्थापना और क्रांति का आगे बढ़ने का मार्ग अपनाया जा सकता है। ऋषि द्रष्टा होता है। समाज को और देश को तथा जो प्रगति करना चाहता है, उनको सदा ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता पड़ती रहेगी, जो सामान्य भूमि से ऊपर उठकर समाज और देश को सम्यक रूप से देख सकें एव आगे का मार्ग प्रशस्त करते रहें। जो बात उन्होंने डॉ० भगवानदासजी के लिए कही थी, आज वह उन पर भी लागू होती है। आज तो राजनीति में सामान्य व्यक्तियों को भी ऋषि कहने का दुस्साहस किया जा रहा है। राजनेता भी ऋषि हो सकता है, पर उसे सम्यक् दृष्टि की स्पष्ट रूपरेखा का ज्ञान होना होगा, राजगद्दी से अलग होना होगा।

उनके हिन्दी प्रेम और भाषा के प्रति सम्मान के भाव का पहले भी जिक्र हो चुका है। वह कारागार में गम्भीर साहित्य का अध्ययन और सृजन करते हुए हिन्दी और उसकी प्रगति से जुड़े रहना चाहते थे। अपने लड़के को ही लिखे 26 फरवरी 1944 के पत्र में वह श्रीप्रकाशजी से अनुरोध करते हैं कि उन्हें कुछ पत्रिकाए भेज दी जाएं। वह 'आज' या 'संसार' के साप्ताहिक संस्करण की, जो भी सरकार की सूची में जेल के भीतर भेजे जाने के लिए

स्वीकृत हों, मांग करते हैं। शायद उसी समय उन्हें संदेह होता है कि इन अखबारों का आजादी की लड़ाई से सीधे संबंध होने के कारण इनका साप्ताहिक भी न छपने पाए। तब वह लिखते हैं कि "मैं सरस्वती को भी मंगाना चाहूंगा। चूंकि यह शुद्ध साहित्यिक पत्रिका मानी जाती है, शायद इसके आने में आपत्ति न हो। तुम इसका शीघ्र पता लगा लो और अगर ये पत्रिकाएं उपलब्ध हों, तो भेजने का प्रबंध कर दो।" आज अक्सर संदेह होता है कि उस स्तर के राजनेता क्या आज हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं पढ़ते है? अपने बारे मे लिखे जाने पर, या अपना साक्षात्कार छपा होने पर या अपने दल की प्रशंसा या निन्दा छपे होने पर तो उस अंक को मंगाकर देख लेते हैं; पर क्या उनके मन में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को नियमित रूप से और इस कारण कि वे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाए हैं, पढ़ने का आग्रह है अथवा बना हुआ है? बहरहाल वह पुन: अत्यंत स्नेह की ओर वापस लौट आते हैं और पूछते हैं कि क्या तुमने भारत के औद्योगिक विकास की जो रूपरेखा पुरुषोत्तम दास आदि व्यक्तियों के हस्ताक्षर से अखबारों में प्रकाशित हुई थी, उसे पढ़ा। तुम चाहो तो उसे पढकर उसपर एक निबंध लिख डालो। वह चाहते हैं कि उनके लड़के और उस पीढ़ी के युवक भारत की भावी समृद्धि की योजनाओ में रुचि लें और उन्हे समझें। आगे एक पत्र मे इसी विषय को फिर उठाते हैं और कहते हैं कि इसका पढ़ना इसलिए भी आवश्यक हो सकता है कि इस पर आगामी परीक्षा में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। उन्हे विश्वास था कि अंग्रेजी सरकार के अधीन बने रहते हुए भी विश्वविद्यालयो के बुद्धिजीवियो में इतनी निर्भीकता और विवेक स्वातंत्र्य बना हुआ है कि वे राष्ट्रीय हित से सम्बद्ध प्रश्नों पर, भले ही वे कांग्रेस की ओर से उठाए गए हों, विश्वविद्यालयो मे चर्चा करते रहेंगे और उन्हे परीक्षा में प्रश्नो के रूप में भी उठाते रहेंगे। यह एक बुद्धिजीवी की आस्था और परस्पर विचार स्वातंत्र्य के प्रति निष्ठा का एक उदाहरण ही है। आचार्यजी ने जीवन भर इस गरिमा को बनाए रखा था।

अहमदनगर किले की नजरबंदी से लिखा आखिरी खत 27 मई 1944 का मिलता है। उसके बाद वह किसी समय बरेली कारागार मे भेज दिए गए। वहां से लिखा हुआ उनका एक खत 10 मई 1945 का है। ऐसा लगता है बरेली जेल पहुंचते-पहुंचते उन्होंने अभिधर्म कोश का अनुवाद प्राय: समाप्त कर लिया था। यहा रहते हुए भी वह बौद्ध दर्शन का ही अध्ययन मुख्य रूप से करते

रहे। पूसां की फ्रेंच में लिखी 'अभिधर्म का इतिहास' वह यहां पढ़ रहे थे, ऐसा पता चलता है। रेने ग्राउसे की लिखी पुस्तकें, जो भारतीय दर्शन के सम्बंध में हैं, उनका भी अध्ययन किया। दूसरे संस्कृत और पाली ग्रंथों का भी अध्ययन करते रहे। हिन्दी की पुस्तकें भी पढ़ते रहे। 'माडर्न कांस्टीट्यूशन्स' नाम की पुस्तक और संविधानों से सम्बद्ध दूसरी पुस्तकें वह प्राय. अहमदनगर जेल मे ही समाप्त कर चुके थे पर अहमदनगर से चलने के पहले 7 फरवरी 1944 के एक पत्र से उनके जीवन की एक और झांकी मिलती है। उनमें अपरिग्रह और अनासक्ति का भाव और व्यवहार कितना समा चुका था और वह अपनी भौतिक समृद्धि के प्रति कितने उदासीन थे, इसका पता चलता है। उन्हें किसी प्रकार का डिविडेंड सरकारी लिक्वीडेटर से मिलना था। सम्भवत: उसकी तीन किस्तें मिल चुकी थीं। चौथी की बारी आने पर वह कारागार में थे। वह यह तो चाहते थे कि उसका भुगतान हो पर वह रकम उनके लड़के को मिले। यहा उनके इस सम्बंध में लिखे गए पत्र का पहले अनुवाद ही प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि ऊपर व्यक्त किया हुआ मत अपने आप ही स्पष्ट हो जाए। वह लिखते हैं कि "मैं देखता हूं कि तुम्हे डिविडेंड की चौथी किश्त मिलने में कठिनाई हो रही है। मैं चाहता हू कि इसका भुगतान तुमको हो। मैं तुम्हे उस भुगतान को प्राप्त करने का अधिकार दे रहा हूं। तुम जानते हो कि मैं कुछ विशेष रूप से उल्लिखित व्यक्तियो को ही खत लिख सकता हूं। मैं व्यवसाय सम्बंधी औपचारिक पत्र भी नहीं लिख सकता। अत: मेरे लिए यह सम्भव नही कि मैं सीधे सरकारी लिक्वीडेटर को लिखूं और उन्हे यह निर्देश दूं कि वे इसका भुगतान तुम्हे कर दें, पर मैं आशा करता हूं कि यदि इस पत्र को उन्हे दिखाओगे, तो वे तुम्हे उसका भुगतान कर देंगे। तुमने जो दूसरा विकल्प सुझाया है, वह व्यावहारिक और सम्भव नही होगा। लेकिन यदि मेरा यह पत्र दिखाने पर भी तुम्हे सफलता नहीं मिलती है तो तुम दूसरे विकल्प का सहारा ले सकते हो। उस हालत में जो चेक मेरे नाम का आएगा, उस पर तुम्हारे पक्ष में हस्ताक्षर करके लौटा दूंगा। लेकिन कठिनाई तब होगी जब वह धारक के नाम उसके खाते में जमा करके मिलने वाला होगा, क्योंकि बैंक में मेरा कोई खाता तो है ही नहीं।" यह खत पहले तो एक दर्द पैदा करता है। फिर आश्चर्य भी होता है कि 7 फरवरी 1944 तक इस महान व्यक्ति का अपना कोई खाता किसी बैंक मे नही है। लोगों की राय तो यही है कि वह मार्क्सवाद मे विश्वास रखते थे। मार्क्सवादी

विश्लेषण और विचारधारा भौतिकवाद को प्रधानता देती है। उद्योग और समृद्धि के संचालन और नियंत्रण में आधुनिक तन्त्रों और व्यवस्थाओं के उपयोग की आवश्यकता होती है। आचार्यजी ने कभी बैंकों की व्यवस्था का विरोध नहीं किया होगा, वरन् उसकी उपयोगिता को आवश्यक माना होगा। वह आधुनिकता और विज्ञान के प्रसार और व्यवहार पर भी जोर देते रहे, पर जहां तक निज का सम्बंध था, वह अनासक्त ही बने रहे। जो लोग उनके ऐसा होने पर विश्वास नहीं भी रखते होंगे, वे भी अधिक-से-अधिक उन पर अपने प्रति लापरवाह होने का दोषारोपण कर सकते हैं। पर यह लापरवाही भी विचारणीय बन जाती है और यह अकारण नहीं थी। समाज को और देश को पूर्णत: समर्पित जीवन की यही दशा होती है। पर आगे के तथ्यों से उनके अपरिग्रह के ही भाव की पुष्टि होती है। वह इसके बाद 19 फरवरी 1944 के पत्र में लिखते हैं कि "मैं चौथी किश्त के कागज पर हस्ताक्षर और साक्षी के हस्ताक्षर कराकर वापस भेज रहा हूं। मुझे मालूम नहीं कि तुम्हें किस प्रक्रिया को अपनाना पड़ेगा। कृपया श्रीप्रकाशजी से राय ले लो और वह जैसी सलाह दें, वैसा ही करो। तुम इस पैसे को अपने पास ही रख लो और इसका उपयोग अपने लिए पुस्तकें खरीदने में करना। यानि तुम जैसा उचित समझना। मैंने तुम्हें पिछले साल कुछ पुस्तकों के नाम सुझाए थे, तुमने उन्हें प्राप्त करने की पूरी कोशिश की पर सफल न हो सके। आजकल अच्छी पुस्तकें मिलना कठिन हो रहा है। (लड़ाई के कारण यह कठिनाई उन दिनों पैदा हो गई थी) मैं कुछ और नाम सुझा रहा हूं।"

इससे अधिक और क्या प्रमाण होगा उनकी अनासक्ति का, उनके अपरिग्रह का, उनके विवेक का, उनके शील का, उनके स्नेह का और उनके सरोकारों का। अपनी इच्छा तो यही प्रकट करते हैं कि इस रकम का उपयोग पुस्तकें खरीदने में किया जाए, पर उसी सांस अपने बेटे को स्वतंत्र भी कर देते हैं कि वह जैसा चाहे वैसा करे। इन सारे पत्रों में उनकी चिन्ता भाई के प्रति, पत्नी के प्रति, बच्चों के प्रति, सगे सम्बन्धियों और मित्रों के प्रति, समाज में जिस प्रकार का सत्कार और व्यवहार होना चाहिए, उसके प्रति पल-पल व्यक्त होती रहती है, पर इन सबमें एक गरिमा बनी रहती है।

नरेन्द्रदेव अपनी नजरों में

मेरा जन्म सम्वत् 1946 में कार्तिक शुक्ल अष्टमी को सीतापुर में हुआ था। हम लोगों का पैतृक घर फैजाबाद में है, किन्तु उस समय मेरे पिताश्री बलदेव प्रसादजी सीतापुर में वकालत करते थे। हमारे खानदान में सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध में अंग्रेजी हुकूमत सन् 1856 में कायम हुई। वह पुराने कैनिंग कालेज में अध्यापन का कार्य करते थे। उन्होंने मेरे पिता और मेरे ताऊजी को अंग्रेजी शिक्षा दी। पिताजी ने कैनिंग कालेज से एफ० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आंखों की बीमारी के कारण वह बी० ए० नही कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन-सुन कर ही उन्होंने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वह सीतापुर मे बाबा के शिष्य मुंशी मुरलीधरजी के साथ वकालत करने लगे। दोनों सगे भाई की तरह रहते थे। दोनो की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मुंशीजी के कोई संतान न थी। वह अपने भतीजे को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिताजी को सीतापुर छोड़ना पड़ा और वह फैजाबाद में वकालत करने लगे।

जब वह सीतापुर मे थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। किसी सन्यासी के प्रभाव मे आने से ऐसा हुआ था। वे बड़े दानशील और सात्विक वृत्ति के थे। वेदांत मे उनकी बडी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। वह संन्यासियो का सत्सग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फारसी का प्रचलन था। किन्तु अपनी सस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होने संस्कृति का अभ्यास किया था। वह एक नामी वकील थे, किन्तु वकालत के अतिरिक्त भी उनकी

अनेक विषयों में रुचि थी। बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी और फारसी मे पाठ्य-पुस्तकें लिखी थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई संग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित किए थे। अंग्रेजी की प्राइमर तो इन्होंने मेरे बड़े भाई को पढ़ाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारम्भ इन्हीं पुस्तकों से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का बड़ा शौक था। हमारे घर पर एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बड़ा हुआ तो गर्मी की छुट्टियों मे इनकी देखभाल भी किया करता था। मैं ऊपर कह चुका हूं कि मेरे पिताजी धार्मिक थे और इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, सन्यासी और पंडित मेरे घर पर प्रायः आया करते थे, किन्तु पिताजी कांग्रेस और सोशल कान्फ्रेंस के कामों में भी थोड़ी-बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पंडित कालीदीन अवस्थी। वह हम भाई-बहनों को हिन्दी, गणित और भूगोल पढ़ाया करते थे। पिताजी मुझसे विशेष रूप से स्नेह करते थे। वह भी मुझे नित्य आध घंटा पढ़ाया करते थे। मैं उनके साथ प्रायः कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वह मुझे अपने साथ एक बार दिल्ली ले गए थे। वहां भारत धर्म महामंडल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पंडित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को आंकने की मुझमें बुद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्माजी की उस समय बड़ी प्रसिद्धि थी। मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढ़ा। इसके अतिरिक्त बेताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तकें भी पढ़ीं। उस समय चन्द्रकांता की बड़ी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को 16 बार पढ़ा होगा। चन्द्रकांता संतति को, जो 24 भाग में है, एक बार पढ़ा था न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकांता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित इन्हीं पुस्तकों का पठन-पाठन हुआ करता था। 10 वर्ष की उम्र में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिता के साथ नित्य मैं सन्ध्या वंदन और भगवद्गीता का पाठ करता था। एक मराठी ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कंठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघु-कौमुदी भी पढ़ी थी। जब मैं 10 वर्ष का था, अर्थात 1899 में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिताजी डेलीगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय के डेलीगेट का 'बैज' होता था—कपड़े का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा लिया और उसको लगाकर अपने चाचाजात भाई के साथ 'विजिटर्स गेलरी' में जा बैठा। उस जमाने मे प्रायः भाषण अंग्रेजी

मे ही होते थे और यदि हिन्दी में होते, तब भी मैं कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवा शोरगुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था। दर्शकों ने तंग आकर मुझे डांटा और पंडाल से भागकर मैं बाहर चला गया। उस समय मैं कांग्रेस के महत्व को क्या समझ सकता था, किन्तु इतना मैं जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानडे देश के बड़े नेताओं मे से थे। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार यही किया। रानडे महाशय की तो 1901 मे मृत्यु हो गई। दत्त महाशय का दर्शन दोबारा 1906 मे कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर हुआ।

मैं 1902 मे स्कूल में भरती हुआ। सन् 1904 या 1905 मे मैंने थोड़ी बंगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृतिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिताजी का मेरे जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली-गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियों में सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक बार मुझे याद है कि अयोध्या मे कोई मेला था। मैंने शौकिया सिगरेट की एक डिबिया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खींचा तो सिर घूमने लगा। इलायची-पान खाने पर तबीयत संभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि लोग क्यो सिगरेट पीते हैं। मैंने उस दिन से आज तक सिगरेट को नही छुआ। हां, श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्टेमोनियम के सिगरेट पीने पड़े हैं। मेरे पिता सदा आदेश किया करते थे कि कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए। मुझे इस सम्बंध में एक घटना याद आती है। मैं बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए आए। मैं घर के अदर गया। मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होंने कहा कि जाकर कह दो कि घर मे नही हू। मैंने उनसे यह संदेश ज्यो-का-त्यों कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज हुए। मैं अपनी सिधाई में यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे यह नतीजा न निकालें के मैं बड़ा सत्यवादी हूं, किन्तु इतना सच है कि मैं झूठ कम बोलता हू। ऐसा जब कभी होता है तो लज्जित होता हू और बहुत देर तक संताप बना रहता है। पिताजी की शिक्षा चेतावनी का काम करती है। मैं पहले यह कह चुका हू कि मेरे यहां अक्सर साधु-सन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पंडित माधवप्रसाद मिश्र। वह महीनो हमारे घर पर रहा

करते थे। वह बंगला भाषा अच्छी तरह जानते थे। उन्होने 'देशेर कथा' का हिन्दी मे अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गई थी। वह हिन्दी के बडे अच्छे लेखक थे। वह राष्ट्रीय विचार के थे। मैं उनके निकट सम्पर्क मे आया। मेरा घर का नाम अविनाशीलाल था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्रजी पर बंगला भाषा का अच्छा प्रभाव था। उन्होंने हम सब भाइयो के नाम बदल दिए। उन्होने ही मेरा नाम 'नरेन्द्रदेव' रखा। सनातन धर्म पर प्राय व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् 1906 में जब मैं एन्ट्रेन्स मे पढ़ता था, स्वामी रामतीर्थ का फैजाबाद आना हुआ और वह हमारे अतिथि हुए। उस समय वह केवल दूध पर रहते थे। शहर मे उनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदांत पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बडा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बडा प्रभाव पडा और बाद मे मैंने उनके ग्रंथो का अध्ययन किया। वह हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्रजी ने उनसे कहा कि संन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता, इतना कहना था कि वह अपना सारा सामान छोड़कर चले गए और पहाड से उनकी चिट्ठी आई कि "राम खुश हैं।"

हमारे स्कूल में एक बड़े योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था श्री दत्तात्रेय भीकाजी रानडे। उनका मुझ पर बडा प्रभाव पडा। उनके पढ़ाने का ढग निराला था। उस समय मैं 8वी कक्षा मे था। किन्तु अंग्रेजी व्याकरण मे हमारे दर्जे के विद्यार्थी 10वी कक्षा के विद्यार्थियों के कान काटते थे। मैं अपनी कक्षा मे सर्वप्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहते थे। किन्तु संस्कृत के पंडित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियों से नाराज हो गए और उन्होने वार्षिक परीक्षा मे हम लोगों को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग बड़े परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमणलाल स्कूल लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। अपने जीवन मे एक बार यह विरक्त हो गए थे। इनके घर पर हम लोग प्रायः जाया करते थे। वे अपने विद्यार्थियो को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सुपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकाल कर दिया करता था। मुझे याद आया कि पंडितजी दो वर्ष के प्रश्नपत्र अपने नाम ले गए हैं। ख्याल आया कि कही इन्हीं वर्षों के एन्ट्रेन्स के प्रश्नपत्रों से न प्रश्न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियों के साथ बैठकर उन प्रश्नपत्रो को हल किया। देखा गया

कि उन्ही प्रश्नपत्रो से सब प्रश्न पूछे गए है। परीक्षा भवन मे पंडितजी ने मुझसे पूछा कि कहो कैसा कर रहे हो? मैंने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन मे ऐसा अच्छा परचा कभी नही किया। उन्होंने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। उन्हें विवश होकर मुझे 50 मे से 46 अंक देने पड़े और कोई भी विद्यार्थी फेल नहीं हुआ। यदि मैं लाइब्रेरियन महाशय का सहायक न होता तो अवश्य फेल हो गया होता।

सन् 1905 में पिताजी के साथ मैं बनारस कांग्रेस गया। पिताजी के सम्पर्क मे आने से मुझे भारतीय संस्कृति से प्रेम हो गया था। उसका ज्ञान तो कुछ था नहीं, किन्तु इस कारण आगे चलकर मैंने एम०ए० मे संस्कृत ली। सन् 1904 में पूज्य मालवीयजी फैजाबाद आए थे। भारत धर्म महामंडल से सम्बद्ध होने के नाते वह मेरे पिताजी से मिलने घर पर आए। गीता के एकाध अध्याय सुने। वह मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एन्ट्रेन्स पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहना। पूज्य मालवीयजी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता था। यद्यपि मैंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज मे नाम लिखाने का विचार किया था, किन्तु साथियो के कारण उस विचार को छोड़ना पड़ा। एन्ट्रेन्स पास कर मैं इलाहाबाद पढ़ने गया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे रहने लगा। मेरे 3-4 सहपाठी थे। हमको एक बड़े कमरे मे रखा गया। छात्रावास मे ठह-रने का यह पहला अवसर था।

बंग-भंग के कारण कांग्रेस मे एक नए दल का जन्म हुआ था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई खास राजनीतिक विचार न थे, किन्तु कांग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं 1905 में दर्शक के रूप में कांग्रेस में शरीक हुआ था। प्रिन्स आफ वेल्स भारत आने वाले थे। उनका स्वागत करने के लिए एक प्रस्ताव गोखले ने कांग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उनका घोर विरोध किया, अंत मे दबाव में उसे वापस ले लिया, किन्तु उसी समय पंडाल से बाहर चले आए। विरोध की यह ध्वनि सुनाई पडी। 1906 में कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस उग्र विचारों का केन्द्र था। पंडित सुंदरलालजी उस समय विद्यार्थियो के अगुवा थे। अपने राजनैतिक विचारो के कारण वह विश्वविद्यालय से निकाले गए।

उस समय बोर्डिंग हाउस में रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्दी गरम दल के विचार का हो गया। हममे से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन मे शरीक हुए। रिपन कालेज मे हम लोग ठहराए गए। नरम-गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई नौरोजी सभापति न होते, तो वहीं दो टुकड़े हो गए होते। उनके कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग थे स्वदेशी, विदेशी माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। कांग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनों दलों में विवाद खड़ा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्वेष का भाव फैलता है, तथापि बंगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पड़ा।

जापान की विजय से एशिया मे जन-जाग्रति का आरम्भ हुआ। एशियावासियों ने अपने खोए हुए आत्मविश्वास को फिर से पाया और अंग्रेजों की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था, वह उठने लगा। इस पीढ़ी का अंग्रेजी शिक्षित वर्ग समझता था कि अंग्रेज हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और हमको शासन के कार्य में दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंपकर चला जाएगा। बिना इस विश्वास को दूर किए राजनीति मे प्रगति आ नहीं सकती थी। लोकमान्य तिलक ने यही काम किया। इस नए दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ता में की गई। इसकी ओर से कलकत्ता में दो सभाएं हुईं। एक सभा बड़ा बाजार मे हुई थी। उसमे भी मैं मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमें सब भाषण हिन्दी मे हुए थे। श्री विपिन चन्द्र पाल और लोकमान्य तिलक भी हिन्दी में बोले थे। श्री पाल को हिन्दी बोलने में कोई विशेष कठिनाई नहीं प्रतीत हुई, किन्तु लोकमान्य की हिन्दी टूटी-फूटी थी। बड़ा बाजार में अधिकतर उत्तर भारत के लोग रहते थे। उन्हीं की सुविधा के लिए हिन्दी मे भाषण कराए गए थे। बंगाल मे इस नए दल का अच्छा प्रभाव था। प्रयाग में दोनों दलों के बड़े नेता आए और उनके व्याख्यानों को सुनने का मुझे अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आए। उनके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पर गए। उनकी सभा का आयोजन थोड़े से विद्यार्थियों ने किया था। शहर के नेताओं में से कोई उनके स्वागत के लिए नहीं गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोड़ागाड़ी लाए थे। हम लोगों ने

घोड़ा खोलकर स्वयं गाड़ी खींचने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे—"इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिए।" एक वकील साहब के अहाते में उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गए हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगों ने दरी बिछाई। एक विद्यार्थी ने 'वंदे-मातरम्' गाना गाया और अंग्रेजी में भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य-रस का भी पुट रहता था। किन्तु वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता करता है तो क्या तुम समझते हो कि अंग्रेज ईश्वर से भी बड़ा है ? इसके कुछ दिनों बाद श्री गोखले आए और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला में हुए। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर हम और टैक्स देना भी बंद कर सकते हैं। इसके बाद श्री विपिन चन्द्र पाल आए और उनके चार ओजस्वी व्याख्यान हुए। इस तरह समय-समय पर किसी-न-किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय और हरदयालजी भी आए। नरम दल के नेताओं में केवल श्री गोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियों पर पड़ा। हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मंगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वंदे-मातरम' आता था, जिसे हम बड़े चाव से पढ़ा करते थे। इसके लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों ने विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढ़ा हो और जिसे दूसरों को न पढ़ाया हो। पांडिचेरी जाने के बाद उनका प्रभाव कायम रहा और मैं 'आर्य' का वर्षों ग्राहक रहा। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बंगाल लौटेंगे और राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे। सन् 1912 में उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गई थी, किन्तु उन्होंने अपने भाई बीरेन्द्र को लिखा कि 1908 के अरविन्द को बंगाल चाहता है, किन्तु मैं 1908 का अरविन्द नहीं रहा। यदि मेरे ढंग के 99 भी तैयार हो जाएं तो मैं आ सकता हूं। बहुत दिनों तक मुझे यह आशा बनी रही, किन्तु अंत में मैं जब निराश हो गया तो उधर से मुंह मोड़ लिया। उनके विचारों में ओज के साथ-साथ सच्चाई थी। प्राचीन संस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसंद आते थे। उनका जीवन बड़ा सादा था। जिन्होंने, अपनी पत्नी को लिखे, उनके पत्र पढ़े हैं, वे इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने

मुझको बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्रवृत्ति को छोडकर विलायत से लौट आए थे। उन्होंने सरकारी विद्यालयो में दी जाने वाली शिक्षा प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा समस्या' पर 14 लेख पजाबी मे लिखे। उनके प्रभाव में आकर पंजाब के कुछ विद्यार्थियो ने पढना छोड दिया था। उनको पढ़ाने का भार उन्होंने स्वय लिया था। ऐसे विद्यार्थियों की सख्या बहुत थोड़ी थी। हरदयालजी बड़े प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बडा काम बिना कठोर साधना के नही होता। एडविन आरनोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' को पढ़कर वह बिलकुल बदल गए थे। विलायत मे श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का उन पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने विद्यार्थियो के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किए थे। इन सूचियो की पुस्तकों को पढना मैंने आरम्भ किया। सन् 1907 में प्रयाग से रामानंद बाबू का 'माडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका बड़ा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बंगाली नवयुवक को क्रांतिकारी समझते थे। बगला-साहित्य में इस कारण और भी रुचि उत्पन्न हो गई। मैंने रमेशचन्द्र दत्त और बकिम के उपन्यास पढे और बंगला-साहित्य थोड़ा-बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत मे हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नही खरीदते थे। माघ-मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कालेज के प्रिंसीपल केनिग्म साहब थे। वह कट्टर एग्लोइंडियन थे। हमारे छात्रावास मे एक विद्यार्थी के कमरे मे खुदीराम बसु की तस्वीर थी। किसी ने प्रिंसीपल को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आए और सीधे मेरे मित्र के कमरे मे गए। मेरे मित्र कालेज से निकाल दिए गए, किन्तु श्रीमती ऐनी बेसेंट ने उनको हिन्दू कालेज मे भरती कर लिया। धीरे-धीरे हम में कुछ का क्रातिकारियो से सम्बध होने लगा। उस समय क्रांतिकारियों का विचार था कि आई० सी० एस० मे शामिल होना चाहिए, ताकि क्राति के समय हम जिले का शासन संभाल सकें। इस विचार से मेरे चार साथी इंग्लैंड गए। मैं भी सन् 1911 में जाना चाहता था, किन्तु माताजी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् 1907 मे सूरत में फूट पड़ चुकी थी, और काग्रेस के गरम दल के लोग निकल आए थे। कन्वेंशन बुलाकर काग्रेस का विधान बदल गया। इसे गरम दल के लोग कन्वेशन काग्रेस कहते थे। गवर्नमेंट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल मे डाल दिए गए। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गए

और लंदन, पेरिस, जिनेवा और बर्लिन मे क्रांति के केन्द्र बनने लगे और वहीं से ही साहित्य प्रकाशित करने लगे। मेरे जो साथी विलायत पढने गए थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्री सावरकर की 'वार आफ इडियन इंडिपेंडेंस' की एक प्रति भी मेरे पास आई थी और मुझे बराबर हरदयाल का 'वंदेमातरम' बर्लिन का 'तलवार' और पेरिस का 'इंडियन सोशलाजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तों में से एक 1908 की लडाई मे जेल मे बंद कर दिया गया था तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आए। मैंने 1908 के बाद से कांग्रेस के अधिवेशनों मे जाना छोड़ दिया, क्योंकि हम लोग गरम दल के साथ थे, यहां तक कि जब कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग मे हुआ, तब भी हम उसमे नही गए। सन् 1916 में जब कांग्रेस में दोनों दलों का मेल हुआ, तब हम फिर कांग्रेस मे आ गए।

बी० ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मैं क्या करू। मै कानून पढ़ना नहीं चाहता था, मैं प्राचीन इतिहास में गवेषणा करना चाहता था। म्योर कालेज मे भी अच्छे-अच्छे अध्यापकों के सम्पर्क मे आया। डाक्टर गंगानाथ झा की मुझ पर बड़ी कृपा थी। बी० ए० मे प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढा। भारत के मध्ययुग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढाते भी अच्छा थे। उन्हीं के कारण मैंने इतिहास का विषय लिया। बी० ए० पास कर मैं पुरातत्व पढने काशी चला गया। वहां डाक्टर वेनिस और नारमन सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कालेज में जो अंग्रेज अध्यापक थे, वह संस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डाक्टर वेनिस जैसा पढाने वाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब मै क्वीस कालेज मे था, तब वहां श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आने वाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रांतिकारियो के समाचार मिलते रहते थे। इन लोगों के साथ बडी सहानुभूति थी किन्तु मैं डकैती आदि के सदा विरुद्ध था। मैं किसी भी क्रांतिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु उनके कई नेताओं से परिचित था। वह मुझ पर विश्वास करते थे और समय-समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् 1913 मे जब मैंने एम० ए० पास किया तब मेरे घरवालो ने वकालत पढने का आग्रह किया। मैं इस पेशे को पसंद नहीं करता था, किन्तु जब पुरातत्व विभाग मे स्थान न

मिला, तब इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति में भाग ले सकूंगा, मैंने कानून पढ़ा।

सन् 1915 में मैं एल० एल० बी० पास कर वकालत करने फैजाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग मे परिपक्व हुए और वही मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार का अध्यात्मिक सम्बंध है। मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियां रही हैं— एक पढ़ने-लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की, और इन दोनो में संघर्ष रहता है। यदि दोनों की सुविधा एक साथ मिल जाती है, तो मुझे बडा परितोष होता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ मे मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है, जो विद्यापीठ की सेवा मे व्यतीत हुआ और आज भी उसे मैं अपना कुटुम्ब समझता हूं।

सन् 1914 मे लोकमान्य मांडले जेल से रिहा होकर आए और अपने सहयोगियो को फिर से एकत्र करने लगे। श्रीमती बेसेंट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ और होमरूल लीग की स्थापना हुई। सन् 1916 में हमारे प्रांत मे श्रीमती बेसेंट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सम्बंध मे लोकमान्य से बातें की और उनकी लीग की एक शाखा फैजाबाद में खोलनी चाही, किन्तु उन्होंने यह कहकर मना किया कि दोनो का उद्देश्य एक है। दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गई किसी संस्था में शरीक नही होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती बेसेंट द्वारा स्थापित सस्था मे नही रहना चाहते। मैंने लीग शाखा फैजाबाद मे खोली और उसका मत्री चुना गया। इसकी ओर से प्रचार का कार्य होता था और समय-समय पर सभाओं का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला भाषण अली बंधुओं की नजरबंदी का विरोध करने के लिए आमंत्रित सभा में हुआ था। मैं बोलते हुए बहुत डरता था, किन्तु किसी प्रकार बोल गया और कुछ सज्जनों ने मेरे भाषण की प्रशंसा की। इससे मेरा उत्साह बढ़ा और फिर धीरे-धीरे सकोच दूर हो गया। मैं सोचता हूं कि यदि मेरा पहला भाषण बिगड़ गया होता, तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

मैं लीग के साथ-साथ कांग्रेस मे भी था और बहुत जल्दी इसकी सब कमेटियों मे बिना प्रयत्न के पहुंच गया। महात्माजी के राजनीति मे आने से धीरे-धीरे कांग्रेस का रूप बदलने लगा। आरम्भ मे वह सक्रियता से भाग नही लेते थे

किन्तु 1919 से वह प्रमुख रूप से भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जब महात्माजी ने असहयोग आंदोलन चलाना चाहा तो असहयोग के कार्यक्रम के सम्बन्ध मे लोकमान्य से उनका मतभेद था। जून 1920 मे काशी मे ए० आई० सी०सी० की बैठक के समय मैंने इस सम्बन्ध मे लोकमान्य से बाते की। उन्होंने कहा, मैंने अपने जीवन मे कभी सरकार के साथ सहयोग नहीं किया किन्तु प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका यह पुराना विश्वास नही रह गया था और उनका ख्याल था कि प्रोग्राम ऐसा हो, जिस पर जनता चल सके। वह कौसिल के बहिष्कार के खिलाफ थे। उनका कहना था कि यदि आधी भी जगहे खाली रहे, तो यह ठीक है किन्तु यदि वहा जगहें भर जाएगी तो अपने को प्रतिनिधि कहकर सरकार-परस्त लोग देश का अहित करेंगे।

उनका एक सिद्धांत यह भी था कि कांग्रेस मे अपनी बात रखो और अत मे जो उसका निर्णय हो, उसे स्वीकार करो। मैं तिलक का अनुयायी था, इसलिए मैंने कांग्रेस में कौंसिल बहिष्कार के विरुद्ध भाषण दिया, किन्तु जब एक बार निर्णय हो गया तो उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे मे मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया तो उसके अनुसार मैने तुरंत वकालत छोड दी। इस निश्चय मे मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नही किया, क्योंकि मैं कांग्रेस के निर्णय से अपने को बंधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी ख्याल नहीं किया। पिताजी से एक बार पूछना चाहा, किन्तु यह सोचकर कि यदि उन्होंने विरोध किया, तो मैं उनकी आज्ञा का उल्लघन न कर सकूंगा, मैंने उनसे भी अनुमति नही मागी किन्तु पिताजी को जब पता चला तो उन्होंने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कहा कि मुझको अपनी स्वतंत्र जीविका की कुछ फिक्र करनी चाहिए और जब तक जीवित रहे, मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नही होने दी। असहयोग आदोलन के शुरू होने के बाद एक बार जवाहरलाल नेहरू फैजाबाद आए और उन्होंने मुझसे कहा कि बनारस मे विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहां लोग तुम्हें चाहते है। मैंने अपने प्रिय मित्र श्री शिवप्रसादजी को पत्र लिखा। उन्होने मुझे तुरंत बुला लिया। शिवप्रसादजी मेरे सहपाठी थे और विचार साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गई। वह बड़े उदार हृदय के व्यक्ति थे। दुनिया में मैंने उन्ही को एक ऐसा व्यक्ति

पाया जो नाम नहीं चाहते थे। क्रांतिकारियों की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम में मेरा मन लग गया। श्रद्धेय डाक्टर भगवानदासजी ने मुझ पर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्हीं की देख-रेख मे मैं काम करने लगा। मैं दो वर्ष तक छात्रावास में ही विद्यार्थियों के साथ रहा था। एक कुटुम्ब जैसा था। साथ-साथ हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची में जब अली बंधुओं को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गावों में प्रचार के लिए गए थे। अपना-अपना बिस्तर बगल मे दबाकर नित्य पैदल घूमते थे। सन् 1926 में डाक्टर साहब ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस मे मुझे कई नए मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापको मे मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गए। उन्होंने मुझे आचार्य कहना शुरू किया, यहा तक कि वह मेरे नाम का एक अंग बन गया है। सबसे वह मेरी प्रशंसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलालजी से होमरूल आंदोलन के समय से था, तथापि श्रीप्रकाशजी द्वारा उनसे तथा गणेशजी से मेरी घनिष्ठता हुई। मैं उनके घर में महीनों रहा हूं। वह मेरी सदा फिक्र उसी तरह किया करते है जैसे माता अपने बालक की। मेरे बारे मे उनकी राय है कि मैं अपनी फिक्र नही करता हू, शरीर के प्रति बड़ा लापरवाह हूं। मेरे विचार चाहे उनसे मिलें, न मिले; उनका स्नेह घटता ही नही। रियासती दोस्ती पायदार नही होती, किन्तु विचारो मे अंतर होते हुए भी हम लोगो के स्नेह मे फर्क नही पडा है। पुराने मित्रों से वियोग दुःखदायी है किन्तु शिष्टता बनी रहे, तो सम्बंध मे बहुत अंतर नही पड़ता। ऐसी मिसाले हैं, किन्तु बहुत कम।

नेता का मुझमें कोई भी गुण नही है। महत्वाकांक्षा भी नहीं है। यह बडी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हू और न अंधभक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नही है कि मैं अनुशासन मे नही रहना चाहता। मैं व्यक्तिवादी नही हूं। नेताओ की दूर से आराधना करता हूं। उनके पास बहुत कम जाता रहा हूं। यह मेरा स्वाभाविक संकोच है। आत्मप्रशंसा सुनकर कौन खुश नहीं होता, अच्छा पद पाकर किसे प्रसन्नता नही होती, किन्तु मैंने कभी इसके लिए प्रयत्न नही किया। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की, किन्तु अपने मान्य नेताओ के

अनुरोध पर खड़ा होना पड़ा। इसी प्रकार जब पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुझसे कार्यसमिति में आने को कहा, मैंने इंकार कर दिया किन्तु उनके आग्रह करने पर मुझे निमंत्रण स्वीकार करना पड़ा।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि मैं नेता नहीं हूं। इसलिए किसी नए आंदोलन या पार्टी का आरम्भ नहीं कर सकता। सन् 1934 में जब जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति बनाना चाहा, तो मैंने इंकार कर दिया। इसलिए नहीं कि मैं समाजवाद को नहीं मानता था, किन्तु इसलिए कि मैं किसी बड़ी जिम्मेदारी को उठाना नहीं चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था और इसी कारण मुझे अंत में उनकी बात माननी पड़ी। सम्मेलन मई 1934 में हुआ था। बिहार में भूकम्प आ गया था। उस सिलसिले में विद्यार्थियों को लेकर काम करने गया था। वहां पहली बार डाक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अंतर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अंत में हम लोगों की विजय हुई। श्री मेहरअली से एक बार 1928 में मुलाकात हुई थी। बम्बई के और मित्रों को मैं उस समय तक नहीं जानता था। अपरिचित व्यक्तियों के साथ काम करते हुए मुझको घबराहट होती है, किन्तु प्रसन्नता की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गए।

यों तो मैं अपने सूबे में बराबर भाषण किया करता था, किन्तु अखिल भारतीय कांग्रेस में मैं पहली बार पटना में बोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक बार कहा था कि बंगाली और मद्रासी कांग्रेस में बहुत बोला करते हैं, बिहार के लोग जब औरों को बोलते देखते हैं तो खिसक कर राजेन्द्र बाबू के पास आते हैं कि "रौवा बोली न!" और यू०पी० के लोग खुद नहीं बोलते और जब कोई बोलता है तो कहते हैं, "क्या बेवकूफ बोलता है।" हमारे प्रांत के बड़े-बड़े नेताओं के आगे हम लोगों को कभी बोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। एक समय पंडित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे किन्तु 1934 में मुझे पार्टी की ओर से बोलना पड़ा। यदि पार्टी बनी न होती तो शायद मैं कांग्रेस में बोलने का साहस भी नहीं करता।

पंडित जवाहरलाल नेहरूजी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा। उनके सम्बंध मे कई कोमल स्मृतियां हैं। यहां केवल एक बात का उल्लेख करता हूं। हम लोग अहमदनगर के किले मे एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातो की चर्चा चल पडी। उन्होंने कहा-"नरेन्द्रदेव ! यदि मैं कांग्रेस के आंदोलन मे न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता तो मैं इंसान न बनता।" उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक मे जवाहरलालजी का एक पत्र उद्धृत किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता है। पंडित मोतीलालजी की मृत्यु के पश्चात् उन्होने अपनी बहनो को लिखा कि पिता की सम्पत्ति मेरी नहीं है, मैं तो सबके लिए उसका ट्रस्टीमात्र हू। उस पत्र को पढकर मेरी आखों मे आंसू आ गए और मैंने जवाहरलालजी की महत्ता को समझा। उनको अपने साथियों का बडा ख्याल रहता है और वह बीमार साथियो की बड़ी सेवा करते हैं।

महात्माजी के आश्रम में चार महीने रहने का मौका मुझे 1942 में मिला। मैंने देखा कि वह कैसे अपने प्रत्येक रोगी की पूछताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बडे कार्यकर्ता का ख्याल रखते थे। आश्रमवासी अपनी समस्याओ को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम में रोग-शय्या पर पडे-पडे मैं विचार करता था कि वह पुरुष जो आज के हिन्दू धर्म के किसी नियम को नही मानता, वह क्यों असख्य सनातनी हिन्दुओं का अराध्य देवता बना हुआ है। पडित समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे, किन्तु अपढ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जाने कि भारतीय जनता पर श्रमण संस्कृति का कही प्रभाव पडा है। जो व्यक्ति घर-बार छोड़कर निःस्वार्थ सेवा करता है, उसके आचार की ओर हिन्दू जनता ध्यान नही देती। पडित भले ही उसकी निन्दा करें, किन्तु सामान्य जनता उसका सदा सम्मान करती है। अक्तूबर 1941 मे जब मैं जेल से छूटा, तब महात्माजी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बध मे मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम मे बुलाया। मैं महात्माजी पर बोझ नहीं डालना चाहता था। इसलिए कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आई० सी० सी० की बैठक मे शरीक होने वर्धा गया और वहां बीमार पड़ गया, तब उन्होंने रहने के लिए आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्माजी मेरी बड़ी

फिक्र रखते थे। एक रात मेरी तबीयत बहुत खराब हो गई। जो चिकित्सक नियुक्त थे, घबरा गए, यद्यपि उसके लिए कोई कारण न था। रात को एक बजे बिना मुझे बताए महात्माजी जगाए गए और वह मुझे देखने आए। वह उनका मौन का दिन था। उन्होंने मेरे लिए मौन तोड़ा। उसी समय मोटर भेजकर वर्धा से डाक्टर बुलाए गए। सुबह तक तबीयत सम्भल गई थी। दिल्ली से स्टैफर्ड क्रिप्स वार्तालाप के लिए आए थे। महात्माजी दिल्ली जाना नही चाहते थे, किन्तु आग्रह होने पर गए। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के बंटवारे का सवाल किसी-न-किसी रूप मे लाएगे, इसलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से बराबर फोन से मेरी तबीयत का हाल पूछा करते थे। बा भी उस समय बीमार थी। इस कारण वह जल्दी लौट आए। जिनके विचार उनसे नहीं मिलते थे, यदि वे ईमानदार होते थे तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्माजी सोच रहे थे कि जेल मे वह इस बार भोजन नही करेगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम भी इस सम्बंध मे महात्माजी से बातें करो। डाक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन आ गए थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गई। हम दोनों ने बहुत देर तक बाते की। महात्माजी ने हमारी बात शातिपूर्वक सुनी, किन्तु उस दिन अतिम निर्णय न कर सके। बम्बई मे जब हम लोग 9 अगस्त को गिरफ्तार हो गए, तो स्पेशल ट्रेन मे अहमदनगर ले जाए गए। उनमें महात्माजी, उनकी पार्टी और बम्बई के कई प्रमुख लोग थे। नेताओं ने उस समय भी महात्माजी से अतिम बार प्रार्थना की कि वह ऐसा काम न करें। किले मे भी हम लोगो को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् 1945 मे हम लोग छूटे। मैं जवाहरलालजी के साथ अल्मोड़ा जेल से 14 जून को रिहा हुआ। कुछ दिनो के बाद मैं पूना मे महात्माजी से मिला। उन्होंने पूछा कि सत्य और अहिंसा के बारे मे अब तुम्हारे क्या विचार हैं? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से अराधना किया करता हूं, किन्तु इसमे मुझको सदेह है कि बिना हिंसा के राज्य की शक्ति हम अंग्रेजो से छीन सकेंगे। महात्माजी के सम्बध मे अनेक सस्मरण हैं, किन्तु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नही कहते।

इधर कई वर्षों से कांग्रेस मे यह चर्चा चल रही है कि कांग्रेस मे कोई पार्टी

नहीं रहनी चाहिए। महात्माजी इसके विरुद्ध थे। देश के स्वतंत्र होने के बाद भी मेरी राय थी कि अभी कांग्रेस से अलग होने का समय नहीं है, क्योंकि देश संकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस सम्बंध में मतभेद था, किन्तु मेरे मित्रों ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि कांग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया, जिससे हम लोगों को कांग्रेस में रहना असम्भव हो गया तो मैं सबसे पहले कांग्रेस छोड दूंगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको आत्मसम्मान का ख्याल है, ऐसा नियम बनाने पर नहीं रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी कांग्रेस छोडने का निर्णय करती तो यह ठीक ही है कि मैं आदेश का पालन करता, किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं कहां तक उसके पक्ष में होता। कांग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब संदेह मिट गए और अपना निर्णय करने में मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पड़ा है, ऐसे ही हुए हैं। इन मौकों पर ऐसी घटनाएं हुई कि मुझे अपना फैसला करने में कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूं।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गए है। शरीर सम्पत्ति अच्छी नहीं है, किन्तु मन में अब भी उत्साह है। जीवन सदा अन्याय से लडते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। स्वतंत्र भारत में इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आंखें मुंदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ में किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हूं कि यही मेरी पूंजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।

अंतिम वर्ष

यह शीर्षक ही भ्रामक है, पर इसी के तहत कुछ कहना पड़ेगा। वह वर्ष उनका अंतिम वर्ष होगा, यह न तो वही जानते थे और न उनको जानने वाले ही जानते थे। वैसे भी वह वर्ष का प्रारम्भ ही तो था। 19 फरवरी 1956 उनकी इहलीला का अंतिम दिन और 20 फरवरी को उनके पार्थिव शरीर का दाह संस्कार। यह सब सदा ही, और जब भी उनकी चर्चा होगी अघट घटना-सी लगती रहेगी। पर यही हुआ।

आचार्यजी का स्वास्थ्य तो 1953 में ही बहुत बिगड़ गया था और इसी कारण उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद से इस्तीफा भी दे दिया। वह 1954 में अपना इलाज कराने अमरीका जाना चाहते थे पर डाक्टरों की सलाह पर इरादा बदल दिया और इंग्लैंड गए। कुछ दिन लंदन में रहकर इलाज कराया। जब वहां भी सुधार नहीं हुआ, तो आस्ट्रिया जाने का इरादा कर लिया। 28 जून को वह वियना पहुंचे। वहीं एक प्रसिद्ध चिकित्सक से इलाज शुरू करा दिया। वहां कुछ दिन इलाज कराने के बाद वह ओबलाडिस चले गए। यहसमुद्रतल से 4500 फुट ऊंचा बड़ा ही रमणीक स्थान है। यहां की जलवायु उनके स्वास्थ्य के लिए बड़ी ही लाभकारी सिद्ध हुई। कहते हैं, यहां उनके स्वास्थ्य में इतनी तेजी से सुधार हुआ कि दो सप्ताह बाद उन्होंने दवा बंद कर दी। उन्हें ऐसा लगा जैसे उन्हें स्वास्थ्य की दृष्टि से अभयदान मिल गया। ओबलाडिस में 25 दिन रहने के बाद कार से वह जेनेवा के लिए चल पड़े थे। वहां बर्लिन, ब्रूसेल्स, युगोस्लाविया से होते हुए पुनः जर्मनी आए और लंदन में कुछ दिन ठहर कर लिवरपूल में मजदूर पार्टी के एक सम्मेलन में भाग लेने गए। वस्तुतः वापसी में लंदन की जलवायु उनके अनुकूल सिद्ध नहीं हुई और वह पुनः बीमार पड़ गए। बीमारी की ही हालत में लिवरपूल चले तो गए, पर होटल से बाहर न जा सके थे। उन्होंने

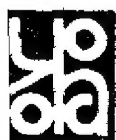
घर आने का निश्चय कर लिया और कैरो, इजराइल और लेबनान होते हुए हिन्दुस्तान वापस आ गए।

देखा जाए तो यह चिकित्सा यात्रा भी जनतान्त्रिक समाजवाद की कल्पना को परिपुष्ट करने की ही यात्रा थी और आचार्यजी का अधिकांश समय उन देशों के राजनेताओं, समाजवादी कार्यकर्ताओं और विशिष्ट व्यक्तियों से भेंट-वार्ता में ही बीता था। आचार्यजी की यह लाचारी ही रही कि उनके आगमन पर वहां के विशिष्ट व्यक्ति उन्हें अकेला नहीं छोड़ते और उनके सम्मान आदि का आयोजन भी करते और विचार-विमर्श भी। यह सब आचार्यजी की अपनी धारणाओं को पुष्ट करने में सहायक तो हुआ, पर स्वास्थ्य पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। स्वदेश आकर वह अपना समय एक ऐसा युवक समाज तैयार करने में लगाना चाहते थे जो जनतान्त्रिक समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध हो। पर विधि का विधान यदि होता है तो कुछ दूसरा ही हुआ यहां आकर उन्हें पार्टी की दुश्चिन्ताओं ने घेर लिया। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी आंतरिक विवाद के भवरजाल में फंस चुकी थी। डा० लोहिया और आचार्य कृपालानी एक दूसरे के साथ काम करने में असमर्थ थे। कृपालानीजी ने इस्तीफा दे दिया था और पार्टी बिना किसी नाविक के डूबने की स्थिति में आ गई थी। आचार्यजी ने बीमार रहते हुए भी पार्टी को बचाने की दृष्टि से उसका अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया और यह निर्णय उनके जीवन के लिए घातक सिद्ध हुआ। वह उसके आंतरिक विवाद और विग्रह में इतने क्षुब्ध हुए कि उनकी मानसिक स्थिति का उनके स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा असर पड़ा।

इस बीच एक नई घटना हुई। आवडी कांग्रेस में कांग्रेस ने 'समाजवादी ढंग का समाज' बनाने का प्रस्ताव पारित कर लिया। इस प्रस्ताव का खुलासा कभी नहीं किया गया और इसने वस्तुतः एक ऐसा भ्रम पैदा कर दिया, जिसमें आज तक कांग्रेस नहीं निकल सकी है। होना तो यह चाहिए था कि इसका प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कार्यक्रमों पर कोई प्रभाव न पड़ता, पर जब पार्टी के प्रायः सभी बड़े-बड़े और मान्य तथा प्रबुद्ध नेता आपसी युद्ध में फंस चुके हों, तो उसका उद्धार आचार्यजी के लिए कठिन होने लगा। आचार्यजी को पार्टी का अंत स्पष्ट दिखाई देने लगा था और उसी के साथ भारत में समाजवाद का भी अन्त दिखाई देने लगा। इस बात को कोई भी आसानी से समझ सकता है कि वह व्यक्ति, जो जनतान्त्रिक समाजवाद का प्रतीक पुरुष बन कर जी रहा था,

जो समाजवाद में ही देश की समृद्धि और शक्ति, उसकी एकता और उसकी स्वतंत्रता देख रहा था, उसको विघटित होते देखकर क्या जीवित रह सकता था।

आचार्यजी ऊपर से दृढ़ बने रहे पर भीतर से खोखले होते गए। सन् 1955 के अंत तक उनका स्वास्थ्य इतना बिगड़ चुका था कि चारों ओर भय का वातावरण-सा छा गया। 3 जनवरी को वह हवाई जहाज से पेन्नादुराई (केरल) ले जाए गए और उनकी चिकित्सा व्यवस्था में श्रीप्रकाशजी का बड़ा ही सराहनीय योगदान रहा। सारा प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। सन् 1953 से लेकर सन् 1955 तक का प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का इतिहास उनके अंत का कारण बना, यह कहने में इस लेखक को तनिक भी संकोच नहीं।



प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार